

# पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 43 नवंबर-दिसंबर, 2012

संपादक

भारत भारद्वाज



ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

# पुस्तक-वार्ता

अंक : 43 नवंबर-दिसंबर, 2012

## प्रकाशक :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,  
पो. गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442005  
फोन : 07152-232200, 230906  
तार : हिन्दीविश्व

## प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव

email : bpsjnu@gmail.com  
फोन : 07152-232943 मो. : 08055290240

## प्रचार-प्रसार : रामप्रसाद कुमरे

email : ram.kumre81@gmail.com  
फोन : 07152-232943 मो. : 09552114176, 09406546762

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ` 20

वार्षिक सदस्यता : ` 120

चेक/ड्रॉफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ` 145 और द्वैवार्षिक ` 265 म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा को भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें। रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो. 09212796256)।

## प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,  
पो. गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)  
फोन : 07152-232943

## संपादकीय संपर्क :

211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091  
मो.-09313034049 (संपादकीय)  
टेली.-011-42151470

## PUSTAK-VARTA

A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi  
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,  
Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण कृति : बाइबिल के भजन-संग्रह 'एडविन सॉल्टर' के चार उपलब्ध पृष्ठों में से एक। 'न्यू टेस्टमेंट' पर आधारित दृश्यचित्र; अज्ञात चित्रकार द्वारा गोंद/अण्डा-जर्दी मिश्रित जलरंगों से चर्मपत्र पर चित्रित, रचनाकाल 1150-1160 ई., कैण्टरबरी, इंग्लैंड। हालांकि इस काल की पांडुलिपियों को प्रायः नहीं सराहा गया लेकिन इनकी प्राचीनता व दुर्लभता इन्हें विशिष्ट बनाती है। वस्तुतः इनकी उपस्थिति नवजागरण काल के चित्रकारों विशेषतः 'ज्योतो' और आगे चलकर 'रैफिल' आदि के अवदान को उजागर करती है।

संयोजन : अशोक सिद्धार्थ

# अनुक्रम

संपादकीय	: खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना और महाराजकुमार रामदीन सिंह	4
पुस्तकें और मैं	: पुस्तकें, मेरी दोस्त पुस्तकें/ श्याम कश्यप	7
उपन्यास	: यथार्थ से यथार्थ तक/ सुभाष शर्मा	11
	: वैश्विक दृष्टि का अनूठा बयान/मीनू मंजरी	15
	: जंगलराज अभी कायम है/विजय शर्मा	17
	: स्त्री चरित्रों के अंतर्विरोधों को तलाशती एक आत्मकथा/प्रियंका शाह	19
	: आदिवासी समाज की कलंक कथा/राजा खुगशाल	20
कहानी	: रचना के पक्ष में तनकर खड़ा एक अदीब—मंटो/ज्ञानप्रकाश विवेक	22
	: छटपटाहट भरी कहानियां/सरिता शर्मा	26
कविता	: लोक संवेदनाओं को पुनर्प्रतिष्ठित करती कविताएं/नरेंद्र पुंडरीक	28
	: स्मृति : स्वप्न और कविता/केवल गोस्वामी	30
	: सलीके वाला कवि और तमीज वाली कविता/श्रीरंग	32
	: कविता के भीतर कविता/रेनू सिंह	35
आलोचना	: आलोचना और विचारधारा का द्वंद्व/परमानंद श्रीवास्तव	37
	: नामवर सिंह : एक मूल्यांकन को पढ़ते हुए/प्रेमशीला शुक्ल	39
	: अतिवादी आलोचना की मार/सूरज पालीवाल	42
	: समय और साहित्य/दिनेश कुमार	45
इतिहास	: इतिहास लेखन : परंपरा का द्वंद्व/गिरीश मिश्र	47
अर्थ-व्यवस्था	: उदारीकरण पर गंभीर सवाल/अरविंद मोहन	49
पुलिस	: पुलिस का मानवीय चेहरा/गौतम भारद्वाज	51
सात समंदर पार	: अर्चना पेन्यूली की कहानी 'हाईवे-47' का अंतर्पाठ/साधना अग्रवाल	53
हस्तक्षेप	: भारतीय लोकतंत्र का चेहरा/अनंत विजय	55

# खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना और महाराजकुमार रामदीन सिंह

## अ

भी जब खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना पर लिखने बैठा हूँ, तो, आज से ठीक पचास वर्ष पहले पटना कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय के छात्र-जीवन (1962-1968) के मस्ती भरे दिनों की स्मृतियाँ आंखों के सामने उभर रही हैं। 1962 ई. में पटना कॉलेज में बी.ए. पार्ट-1 की कक्षा में मैंने प्रवेश लिया था। मिंटो हॉस्टल में रहने वाले सात सहपाठियों—प्रियदर्शी ठाकुर 'खयाल' (अब अवकाशप्राप्त आई.ए.एस., 'खयाल' तखल्लुस उन्होंने बाद में रखा, जब वे गज़ल लिखने लगे), ज्योति कुमार सिन्हा (अवकाशप्राप्त आई.पी.एस., संप्रति राष्ट्रीय आपदा प्रबंधन प्राधिकरण के सदस्य), महादेव प्रसाद शर्मा (अवकाशप्राप्त ए.डी.एम., बिहार प्रशासनिक सेवा), रामदेव सिंह (संप्रति अधिवक्ता, लक्खी सराय, मुंगेर), कविजी (रामनंदन सिंह, सेना से अवकाशप्राप्त मेजर—अब स्वामी बन गए हैं) और मैं (आई.बी. से अवकाशप्राप्त) की एक आत्मीय मित्र मंडली बन गई थी। हम लोग देर रात तक पढ़ते-लिखते। सप्ताह में एक बार नाइट शो सिनेमा देखने प्रायः जाते थे साथ-साथ। तीन रिक्शे पर। मिंटो हॉस्टल में खाना खाते-खाते सिनेमा का कार्यक्रम बनता था और जल्दबाजी में अशोक राजपथ से हम लोग रिक्शा लेते।...रिक्शे पर हम लोग बैठ गए हैं। दूसरे रिक्शे पर मैं प्रियदर्शी के साथ बैठा हूँ। ठीक गांधी मैदान के पहले बी.एन. कॉलेज के सामने वाली गली के प्रवेश द्वार पर मेहराब के आकार में टंगा टीन का साईनबोर्ड खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना की ओर संकेत करके मैं बताता हूँ कि यह ऐतिहासिक प्रेस था, जिसने आधुनिक हिंदी के विकास और प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण

भूमिका निभाई थी। अब उसकी स्मृति शेष है। प्रियदर्शी की उत्सुकता को मैं संक्षेप में बताता हूँ। अब हम एलिफिंस्टन सिनेमा के सामने हैं। चूँकि बचपन में यज्ञोपवीत के पहले ही मेरा साहित्यिक संस्कार हो गया था, इसलिए खड्गविलास प्रेस के महत्व को समझता था। पता नहीं कितनी बार अशोक राजपथ से गुजरते उस साईनबोर्ड को देखा होगा। तब इतनी बुद्धि नहीं थी कि कभी गली के भीतर जाकर देखूँ कि अब प्रेस का अस्तित्व है भी या नहीं। अब अपनी लापरवाही को कोसता हूँ। अपने समय के अनमोल धरोहर को देखने से मैं वंचित रह गया। बाद के वर्षों में मैंने देखा कि साईनबोर्ड कट-फट गया। फिर भी वर्षों तक लटका रहा। 1968 में दिल्ली आई.बी. नौकरी ज्वायन करते अशोक राजपथ से गुजरते पटना जंक्शन जाते हुए आखिरी बार यह देखकर मैं दंग रह गया कि पूरे साईनबोर्ड का एक छोटा हिस्सा बांकीपुर, पटना लटका रह गया है।

लेकिन खड्गविलास प्रेस का इतिहास जानने की मेरी उत्सुकता खत्म नहीं हुई थी। नौकरी के दौरान साहित्य से राग-विराग भी हुआ, लेकिन एक अच्छी बात यह हुई कि 1970 में असम के मिजो हिल्स डिस्ट्रिक्ट के मुख्यालय आईजोल में तबादला के बाद मैं साहित्य से फिर जुड़ गया। डॉ. रामविलास शर्मा (जिनकी जन्मशती का यह वर्ष है) की 1953 ई. में प्रकाशित पुस्तक 'भारतेंदु हरिश्चंद्र' की भूमिका में उल्लेख है कि पटना के खड्गविलास प्रेस में जनकवि कन्हैयाजी की मदद से भारतेंदु पर उन्हें पर्याप्त सामग्री मिली। इस उल्लेख ने खड्गविलास प्रेस के प्रति मेरी उत्सुकता और बढ़ा दी। मेरी उत्सुकता का अंत हुआ—11वें विश्व पुस्तक मेले (12 फरवरी, 1994) में।

मेले में विभिन्न प्रकाशनों के स्टॉल से गुजरते मैं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के स्टॉल पर पहुंचा। वहां मेरे सामने जो पहली पुस्तक दिखी, उसका शीर्षक था, 'आधुनिक हिंदी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका'। मेरी बांछें खिल गईं और झटपट यह पुस्तक मैंने खरीद ली। बाद में मेरे हाथ में यह पुस्तक देखकर मेरे अनेक मित्रों—कवि-आलोचक श्याम कश्यप, राजकमल प्रकाशन के निदेशक मोहन गुप्त और तीन अन्य लोगों ने स्टॉल पर जाकर यह पुस्तक खरीदी।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की स्थापना की संकल्पना तो 11 अप्रैल, 1947 को की गई थी, लेकिन इसकी स्थापना 1950 ई. में हुई और इसके पहले निदेशक थे आचार्य शिवपूजन सहाय। उनके कार्यकाल में परिषद् द्वारा आधा दर्जन महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उल्लेखनीय पुस्तकें हैं—'पद्मावत : संजीवनी व्याख्या' (वासुदेवशरण अग्रवाल), 'बुद्ध धर्म दर्शन' (आचार्य नरेन्द्रदेव), 'मध्य-एशिया का इतिहास' (राहुल सांकृत्यायन)। इन तीनों पुस्तकों पर क्रमशः 1956, 1957 और 1958 में साहित्य अकादेमी के पुरस्कार मिले। परिषद् से ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' छपी। आचार्य शिवपूजन सहाय का कार्यकाल वस्तुतः परिषद् का स्वर्णकाल था। बाद में इसका पराभव हुआ। जब पंडित रामदयाल पांडेय इसके निदेशक थे, वहां से डॉ. धीरेन्द्रनाथ सिंह की पुस्तक—'आधुनिक हिंदी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका' 1986 ई. में छपी। यह संभवतः परिषद् की गौरवमयी परंपरा में छपने वाली आखिरी पुस्तक थी। डॉ. धीरेन्द्रनाथ सिंह का यह शोध-प्रबंध काशी हिंदू विश्व-विद्यालय में डॉ. विजयशंकर मलय के निर्देशन

में पी-एच.डी. की शोधोपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था। परिषद् से संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप में यह शोधप्रबंध छपा।

यह पुस्तक मुझे क्या मिली, मुझे लगा पूरा खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना के साथ, पूरा भारतेंदु-युग मुझे मिल गया। लगातार दो रातें अपनी नींद उड़ाते पूरी पुस्तक मैं पढ़ गया। पुस्तक पढ़ने के बाद मुझे लगा यह तो भारतेंदु युग-द्विवेदी युग का एक भरा-पूरा वृतांत और दिलचस्प आख्यान है। बाबू रामदीन सिंह के प्रति श्रद्धा से मेरा माथा झुक गया। भारतेंदु से हम आधुनिक खड़ी बोली का आरंभ मानते हैं, जब 'हिंदी नई चाल में ढली'। मुझे यह देखकर हैरानी हुई कि हम अपने पूर्वजों के बारे में कितना कम जानते हैं। हिंदी का पहला प्रेस नवलकिशोर प्रेस मुंशी नवलकिशोर ने लखनऊ में 1858 ई. में स्थापित की थी। 1857 के विद्रोह के बाद जो हिंदी प्रदेशों में नवजागरण हुआ, उसकी पहली कड़ी थी यह। बाबू रामदीन सिंह ने 1880 ई. में पटना के बांकीपुर में खड्गविलास की स्थापना की थी। इस स्थापना के पीछे उनके अन्य कई सहयोगी थे, लेकिन बाबू रामदीन सिंह ने अपने प्रेस का नाम अपने अभिन्न मित्र लाल खड्ग बहादुर मल्ल के नाम पर रखा। 'बाबू साहब क्षत्रिय थे। क्षत्रियों के संप्रात कुल में उनका जन्म हुआ था। उस समय के सामंती युग में क्षत्रियों के आमोद-प्रमोद का मुख्य साधन 'खड्ग' था और उनके परम मित्र लाल खड्ग बहादुर मल्ल थे। उन्होंने मित्रता निभाई और प्रेस का नाम रख दिया—खड्गविलास प्रेस।' हम उस समय की कल्पना करें। 'प्रेस स्थापना के बाद बाबू रामदीन सिंह ने 'क्षत्रिय पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ किया। इसकी प्रतियां देश के प्रमुख राज-रजवाड़ों को भेजी गईं। जयपुर नरेश इस पत्रिका के प्रकाशन से प्रसन्न हुए। उन्होंने इसके लिए तीन हजार रु. भेजे। इससे प्रेस की आर्थिक स्थिति को बल मिला।...कुछ ही समय में इस प्रेस का निजी भवन वर्तमान वी.एन. कॉलेज के सामने वाली गली में बनकर तैयार हो गया। प्रेस वहीं स्थानांतरित हो गया।'।

खड्गविलास प्रेस की स्थापना और मुद्रण की सुविधाएं उपलब्ध होने के बाद इसकी कीर्ति-पताका फहराने लगी। प्रेस की ऊपरी मंजिल पर अतिथिकक्ष बनाया गया। इस

अतिथिकक्ष में ठहरने वाले थे—भारतेंदु हरिश्चंद्र, लाल खड्ग बहादुर मल्ल, पं. प्रतापनारायण मिश्र, पं. अंबिकादत्त व्यास, पं. सकलनारायण शर्मा, बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', पं. दामोदर शास्त्री, जी. ए. ग्रियर्सन, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय आदि। बाबू रामदीन सिंह को लंबी उम्र नहीं मिली थी। मात्र 47 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हुई, लेकिन प्रेस की स्थापना 1880 ई. से 1903 ई. तक जीवनपर्यंत जिस तरह उन्होंने साहित्य की सेवा की, वह उल्लेखनीय है। इस प्रेस को यह गौरव प्राप्त है कि इसने सबसे पहले हिंदी में भारतेंदु ग्रंथावली का छह खंडों में संपादन किया। यही नहीं, इसी प्रेस को इस बात का श्रेय है कि इसने हिंदी की नौ प्रमुख पत्रिकाओं, 'ब्राह्मण' सहित को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया। खड्गविलास प्रेस को ही इस बात का श्रेय भी दिया जाना चाहिए कि इसने सबसे पहले लेखकों को रॉयल्टी देने की शुरुआत की। इस प्रेस की एक बड़ी कोशिश थी कि हिंदी वर्तनी को एकरूपता प्रदान करे। बाबू रामदीन सिंह साहित्य प्रेमी ही नहीं, अनुरागी भी थे। उन्होंने परिश्रमपूर्वक प्रेस का एक साहित्य संग्रहालय तैयार किया था। यह यूं ही नहीं है कि सुप्रसिद्ध निबंधकार और पत्रकार बाबू बालमुकुंद गुप्त ने उनके बारे में लिखा—'बाबू साहब हमारे बहुत परिचित थे। कलकत्ते में जब आते थे, तो हमारे यहां आने की कृपा करते थे।...कलकत्ते से जब जाते थे, सैकड़ों पुस्तकें बटोर के ले जाते थे। पुस्तकें खरीदने में उनको रेल का खर्चा, घर जाने तक का खयाल नहीं रहता था।' उन्होंने प्रेस की दूसरी मंजिल पर ग्रंथालय बनाया था। इसी पुस्तकालय को भारतेंदुजी ने पटना में देखा था। उन्होंने सारी रात ग्रंथों को उलटने-पलटने में बिता दी। संग्रहालय देखकर वे विस्मित थे। संग्रहालय की 12 आलमारियों में हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत एवं बांग्ला की अनमोल पुस्तकें थीं। बाबू साहब सहृदय साहित्यिक थे। उनका जन्म 20 जनवरी, 1856 ई. में बलिया में हुआ था, लेकिन आठ वर्ष की उम्र में वे अपने मामा, जो साहित्यिक थे, के यहां तारखपुर गांव (पटना) आ गए। यहीं उनका साहित्यिक संस्कार हुआ। मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे छपरा के एक स्कूल में सहायक शिक्षक हुए। अध्यापन के क्रम में उन्हें पाठ्यपुस्तकों की

कमी लगी। फिर अनेक पाठ्य-पुस्तकें लिखीं। आज हिंदी समाज को जानकर हैरानी होगी कि खड्गविलास, बांकीपुर, पटना की चर्चा लंदन के समाचार-पत्रों—'रॉयल एशियाटिक सोसायटी जर्नल, लंदन मैगजीन, इंडिया मैगजीन, ओवरलैंड मेल' में होती थी।

आधुनिक हिंदी साहित्यिक इतिहास के विकास में खड्गविलास प्रेस, पटना की अप्रतिम भूमिका है। विस्तारभय से संपादकीय की सीमा को देखते हुए मैं दो प्रसंगों का उल्लेख करना चाहूंगा। मुझे कहने दीजिए, यदि बाबू साहब नहीं होते तो भारतेंदु को 35 साल की जिंदगी भी नहीं मिलती। अपने अंतिम दिनों में वे जिस आर्थिक संकट से गुजर रहे थे, बाबू साहब ने सहृदयता के साथ उदारतापूर्वक उन्हें आर्थिक सहायता देकर आर्थिक संकट से उबारा। इसकी चर्चा बाद में। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (1858) के बाद यह दूसरा प्रेस था, जिसने हिंदी के प्रचार-प्रसार में भारी योगदान दिया। डॉ. धीरेन्द्रनाथ सिंह ने अपनी इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित पुस्तकों की संपूर्ण सूची उन्हें उपलब्ध नहीं हो सकी, लेकिन इस पुस्तक के अंत में जितनी लंबी सूची दी गई है, आज किसी को भी हैरान करने वाली है। इस वर्गीकृत सूची से मैं सिर्फ कुछ पुस्तकों का उल्लेख करना चाहूंगा। अनुमानतः दो-ढाई सौ पुस्तकें इस प्रेस से छपीं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—1. रामचरितमानस—तुलसीदास, 2. प्रेमप्रलाप—हरिश्चंद्र (1883), Curiousities of Indian Literature—G.A. Grierson (1885), आल्हा—G.A. Grierson 'प्रियप्रवास' (हिंदी का पहला महाकाव्य—1914)—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रसखान-शतक प्रतापनारायण मिश्र—(1892), उजाड़ ग्राम (गोल्ड स्मिथ) शुक्लजी ने अपने इतिहास में इसका नाम गलत लिखा है, जिसकी ओर नंदकिशोर नवल ने अपने आलेख में उल्लेख किया है। अन्य पुस्तकें हैं—ठेठ हिंदी का ठाठ—हरिऔध—1899, अद्भुत प्रायश्चित—ब्रजानंदन सहाय, सौंदर्योपासक—ब्रजानंदन सहाय (1911)। यह सूची बहुत लंबी हो सकती है, क्योंकि खड्गविलास प्रेस का इतिहास भारतेंदु-युग और द्विवेदी-युग की तमाम महत्त्वपूर्ण रचनाओं के घेरे में है। बाबू साहब भारतेंदु को बहुत मानते ही नहीं थे, उनकी आर्थिक स्थिति

को ठीक से संभालते भी थे। इस पुस्तक के अंत में भारतेंदु बाबू द्वारा बाबू साहब को लिखे अनेक पत्र हैं। बस, मैं आपकी अनुमति से सिर्फ एक पत्र उद्धृत करना चाहता हूँ ताकि उनके आत्मीय संबंधों का ठीक से खुलासा हो सके। भारतेंदु बाबू ने बाबू साहब को 23 सितंबर, 1882 ई. के पत्र में लिखा—

प्रिय!

आपका पत्र और तार मिला। आपने जैसा अनुग्रह इस समय किया, वह कहने योग्य नहीं चित्त ही साक्षी है।...हो सके तो एक सौ और भेज दीजिए। जो काम इस वक्त दरपेश है, नहीं निकलता और मैं यहां किसी से उसका जिक्र तक नहीं किया चाहता, इसी से फिर निर्लज्ज होकर लिखा, किंतु जाने दीजिए, बहुत कष्ट हो तो नहीं। क्षमा।

भवदीय  
हरिश्चंद्र

फिर भारतेंदु बाबू ने 23 सितंबर, 1882 ई. को ही दूसरा पत्र बाबू साहब को लिखा—

प्रिय!

‘...यह फिर मैं किस मुख से कहूँ कि हो सके तो शीघ्र एक और भेज दीजिए।

...भवदीय  
हरिश्चंद्र

देख लिया आपने। यह था एक लेखक और प्रकाशक का आत्मीय संबंध। भारतेंदु बाबू के प्रति बाबू रामदीन सिंह जैसे सहृदय साहित्यानुरागी प्रकाशक का समर्पण। हिंदी साहित्य के इतिहास में यह एक बेमिसाल उदाहरण है।

मेरे जानते संभवतः भारत में यह पहला उदाहरण है कि किसी प्रेस पर पी-एच.डी. की शोधोपाधि मिली हो। मैं इसके लिए स्व. डॉ. धीरेंद्रनाथ सिंह के प्रति कृतज्ञ हूँ कि शोध-परंपरा को उन्होंने चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया। बाबू रामदीन सिंह का महत्त्व हिंदी साहित्य के लिए क्या था, इसका ठीक पता चलता है तरुण कुमार द्वारा संपादित ‘हरिऔध ग्रंथावली’ खंड-6 की भूमिका से। वे लिखते हैं—‘हरिऔध ने गद्य में रचनात्मक साहित्य के साथ आलोचनात्मक साहित्य की भी सृष्टि की है। इसमें 1935 ई. में प्रकाशित उनकी ‘हिंदी भाषा और साहित्य का विकास’ नामक कृति का विशेष महत्त्व है। यह वस्तुतः 1934-35 ई. में रामदीन सिंह खंडरशिप से संबंधित व्याख्यानों का संग्रह है, जो उन्होंने 1934-35 ई. में पटना विश्वविद्यालय, पटना में दिए थे।’ अंत में, अब एक दुखद प्रसंग। इस पुस्तक के लेखक डॉ. धीरेंद्रनाथ सिंह असमय काल कवलित हुए। उनकी चिता बनारस के घाट पर पहुंचने के तुरंत बाद वाचस्पति (उपाध्याय) ने दुखद सूचना दी कि धीरेंद्रजी नहीं रहे। अभी मैं कुछ बोलता कि उन्होंने फोन उनके

पिता पारस बाबू (पटना में ‘आज’ और ‘प्रदीप’ के प्रसिद्ध प्रधान संपादक पत्रकार) को थमा दिया—उन्होंने जो कहा, मैं कभी भूल नहीं सकता, ‘मेरा बेटा धीरेंद्र कभी नहीं मर सकता, जब तक भारत भारद्वाज जीवित है।’ मैं रोने लगा। किसी तरह वाचस्पति ने मुझे ढाढ़स बंधाते सांत्वना दी। मित्रो, साहित्य की दुनिया बड़ी होती है, लेकिन संवेदना के सहारे हम जीवित रहते हैं, कभी मरते नहीं।

इस बीच प्रतिभाशाली कहानीकार-आलोचक ललित कार्तिकेय भी हमसे सहसा बिछुड़ गए। उन्हें श्रद्धांजलि के साथ हम याद करते हैं। पहले प्रसिद्ध नाटकों के निर्देशक और अभिनेता दिनेश ठाकुर और अब यह अंक छपते-छपते रोमांटिक हिंदी फिल्मों के प्रसिद्ध निर्माता और निर्देशक यश चोपड़ा ने भी हमें अलविदा कह दिया। जिन लोगों ने उनकी फिल्में देखी हैं, वे उनके मन-प्राण में हमेशा बसे रहेंगे। अचानक और अप्रत्याशित बांग्ला के प्रख्यात साहित्यकार और साहित्य अकादेमी के अध्यक्ष सुनील गंगोपाध्याय के बिछुड़ने का भी हमें गहरा अफसोस है। हिंदी के प्रतिष्ठित आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के जन्मशती वर्ष में उनके अनुज रामशरण शर्मा ‘मुंशी’ का जाना हमें सचमुच अखर गया। इन सबों को हमारी श्रद्धांजलि।

# पुस्तकें, मेरी दोस्त पुस्तकें

श्याम कश्यप

मे

रे बचपन की सबसे पुरानी स्मृतियों में तीन चीजें आज भी एकदम ताजा हैं : किताबें पढ़ते हुए बाऊजी, गोल बैठक और उसमें चारों तरफ किताबें ही किताबें। किताबें, किताबें, किताबें और किताबें! आप कह सकते हैं कि मेरा जन्म किताबों के बीच हुआ। मेरा लालन-पालन भी किताबों से खेलते, फिर उन्हें पढ़ते-समझते और उन्हें प्यार करते हुए हुआ। बड़ा होने पर देश, दुनिया और समाज की समझ तक, मेरे यही दोस्त मुझे उंगली पकड़कर, आज जहां हूं, वहां तक लाए हैं! निश्चय ही जीवनानुभवों की कठोर कसौटी पर कसते हुए! आप कह सकते हैं कि मुझे किताबों ने बनाया है! छपी हुई किताबें और जिंदगी की असमाप्त किताब! दोनों ने। बाहर-भीतर। सब कुछ।

...तो, फ्लैश-बैक : रंगबिरंगे कांच की खिड़कियों वाले गोल बारामदे से घिरा गोल कमरा। बाऊजी की बैठक और स्टडी। दुर्मांजिले के इस बड़े कमरे के चार आर्क-दरवाजों (तीन गोलाकार बारामदे में और एक छोटी-सी लंबी लॉबी में खुलने वाले, जो विशाल हॉल से जुड़ी थी) और दो कोनों को छोड़कर, बाकी सब जगह किताबें ही किताबें थीं। ऊपर रोशनदानों तक। मानों दीवारें किताबों की बनी हों! एक कोने पर बड़ी स्टडी-टेबल थी और एक घूमने वाली कुर्सी। दूसरे कोने पर बड़ा-सा रेडियोग्राम। ये भी खुली-अधखुली सीधी-औंधी किताबों के ढेर से अटे रहते!

ललचाने वाली इन किताबों

तक पहुंच आसान नहीं थी। वे दीवारों में बनी ऊंची-ऊंची आलमारियों में बंद थीं। उनके कांच के पल्ले क्लिपों से बंद रहते। घुटनों के बल घिसटकर, मैं पल्लों के सहारे खड़ा हो, उन्हें पकड़ने की नाकाम कोशिशें करता! मेरा सबसे बड़ा आकर्षण ये किताबें ही थीं, तमाम ढेरों खिलौनों से बढ़कर। हालांकि किताबों की 'किताबों' के रूप में मुझे पहचान नहीं थी। किताबों से मेरी दोस्ती तकरीबन तभी से है, गोकि यह दोस्ती तब बड़ी खतरनाक थी। मुझे किताबों के पन्ने फाड़ने में बड़ा मजा आता था। चिर्-चिर्, उनकी फटने की मधुर ध्वनि मुझे इतनी कर्णप्रिय थी कि इसके लिए मैं कुछ भी कर सकता था! एक बार किताब हाथ आ जाने पर, क्या मजाल कि कोई मुझसे छीनने का दुस्साहस कर सके!

आलमारियों के कुछ पल्ले खुले रह जाते तो मेरी ईर्दें हो जातीं! बाऊजी पढ़ने के बाद मुझे खेलने के लिए (फाड़ने) रोज अखबार देते, पर मेरी दिलचस्पी आलमारियों में रखी किताबों में ही थी। मैं मौके की

ताक में रहता! बाऊजी का मन रखने के लिए अखबारों की चिंदियां उड़ाते हुए भी, आंख बचाकर, खुले खानों पर टूट पड़ता! कभी-कभार बैठक के ठीक बीचोबीच सोफों और काउच पर या उनके मध्य रखी नक्काशीदार मेज पर भी मुझे अपने दोस्त मिल जाते! मैं बाऊजी से भी छीनने की कोशिशें करता। बाऊजी की सबसे पुरानी स्मृतियों में भी, मुझे वे सोफों या अर्धगोलाकार काउच पर अधलेटे किताबें पढ़ते हुए नजर आते हैं। यहां तक कि नाश्ता-खाना खाते हुए भी पढ़ते। पढ़ते-पढ़ते-पढ़ते!

किताबों से मेरा दूसरा परिचय उनकी साज-सज्जा और संपादन से ताल्लुक रखता है। कुछ बड़ा होने पर बाऊजी ने अपनी स्टडी-टेबल के पास मेरी भी केन की छोटी-सी मेज-कुर्सी लगा दी। मुझे ढेर सारी ड्राइंग की कॉपियां, पेस्टल कलर और रंगीन पेंसिलों के डिब्बे ला दिए। इस तरह, उन्होंने किताबें फाड़ने के खतरनाक खेल से मुझे विरत करने की कोशिश की। मैं हुआ भी! पर आलमारियों में रखे दोस्तों के प्रति मेरी ललक कम नहीं

हुई थी। हमारी पक्की दोस्ती टूटने वाली नहीं थी। तमाम रंगबिरंगे प्रलोभनों के बावजूद! मौका मिलते ही मैं उन्हें हथिया लेता। अब मैं बड़े प्यार से किताबों की रंगीन 'साज-सज्जा' करता और पेंसिलों से (स्याही और पेन मुझसे छिपाए जाते) उनके लिखे का 'संपादन' करता या उन्हें रंग-चुंग कर सचित्र बनाता!

इस तरह, अपनी इस 'दोस्ती' और 'कलाकारिता' से



मैंने बाऊजी का बड़ा नुकसान किया था। स्वभाव से बेहद गुस्सेल बाऊजी ने मुझे कभी दंड नहीं दिया। उन्हें जीवन में सबसे ज्यादा प्यार (मेरे बाद) किताबों से ही था। किताबों से यह बेपनाह प्यार और गहरी दोस्ती मुझे अपने पिता (स्वर्गीय परमानंद मिस्सर उर्फ पी.एन. कश्यप) से विरासत में मिली है। खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, हर समय (चार-पांच घंटे सोना छोड़कर) पढ़ने-पढ़ने-पढ़ने और हमेशा पढ़ते रहने की लत भी! अपने पिता से भी आगे जाकर (सुयोग्य पुत्र की तरह), इस नशे को मैंने उसके सर्वोच्च कलात्मक शिखर तक पहुंचाने में कोई कसर नहीं छोड़ी!

मेरा किताबों से तीसरा और तकरीबन असली परिचय कुछ और बड़ा होने पर हुआ। अब मैं जानने-समझने लगा था कि ये 'किताबें' हैं। इनका मतलब क्या है! उपयोगिता क्या है! मेरे विध्वंसक हमलों से अपनी ज्ञान-संपदा बचाने के लिए बाऊजी ने दो काम किए। एक तो वे मेरे लिए रंगीन चित्रों वाली बाल-पुस्तकों और पत्रिकाओं का ढेर लगाने लगे; दूसरे, बड़ी छोटी उम्र से ही हिंदी और अंग्रेजी का अक्षर-ज्ञान कराने लगे और पढ़-पढ़कर कहानियां सुनाने लगे। पंजाबी तर्जुमे में। साल-छह महीने में ही मैं हिंदी-अंग्रेजी में पहले अटक-अटककर, फिर जल्दी ही फरटि से पढ़ने लग गया। पढ़े हुए का मतलब बिना समझे या लगभग आधा-अधूरा ही! वह खाई भी मैंने जल्दी पार कर ली! अब बाऊजी की लाइब्रेरी के द्वार मेरे लिए खुल गए। बाऊजी ने मुझे डेनियल डेफो का 'रोबिंसन क्रूसो', जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रैवल्स', राबर्ट लुई स्टीवेंसन का 'ट्रेजर आईलैंड' और रुडयार्ड किप्लिंग की 'जंगल बुक' उनके पंजाबी में अर्थ समझाते हुए पढ़कर सुनाई। फिर वे मुझे, खुद पढ़कर उनकी कहानी अंग्रेजी में लिखने का 'टास्क' देते। मैं हिंदी में लिखता।

बाऊजी मुझे अंग्रेजी सिखाते, मां हिंदी। मेरी अंग्रेजी कमजोर रह गई, पर हिंदी बहुत अच्छी हो गई। बाऊजी ने उर्दू सिखाने की भी कोशिश की, पर वह मैं बिल्कुल नहीं सीख पाया। मां मुझे 'कल्याण' की कहानियां सुनातीं। साथ ही, 'कल्याण' के विशेषांकों के रूप में छपे 'महाभारत' वाल्मीकि 'रामायण'

और तुलसीकृत 'मानस'। जल्दी ही मैं खुद इन्हें पढ़ने लगा। इसी दौरान हम लखनऊ गए तो बाऊजी के लाहौर के क्रांतिदल (HSRA) के साथी यशपालजी ने उन्हें अपनी सारी किताबें भेंट कीं। आते ही मैं उन्हें चाट गया। इन दिनों, पहले जहां मैं डेफो, स्विफ्ट और स्टीवेंसन से बेहद प्रभावित था और उनके उपन्यासों को 'सच्ची घटनाएं' मानकर मैंने खजानों की खोज में जाना तय किया था। मैं दोस्तों के साथ रोबिंसन क्रूसो बनता और अपने मित्र विजय को फ्राइडे बनाता। रामायण-महाभारत के नाटक भी करते, लेकिन लखनऊ से लौटने के बाद मेरे लक्ष्य बदल गए। क्रांतिदल और भगतसिंह की कहानियां तो धुर बचपन से सुनता आया था। अब 'सिंहावलोकन' (शायद तीन भाग?) पढ़कर मैंने भी क्रांतिदल बनाने का फैसला किया। इस समय मेरी सबसे ज्यादा पसंद की किताब यशपाल का 'देशद्रोही' था। बार-बार पढ़ता और आखिरी हिस्सों को पढ़ते फूट-फूटकर रोता! आप कह सकते हैं कि हिंदी मैंने अपनी मां (शकुंतला रानी) से सीखी और कम्युनिस्ट मुझे यशपाल ने बनाया। वे मेरे 'हीरो' थे, हालांकि बाऊजी उनके कटु आलोचक थे।

इस दौरान आर्थिक संकटों की वजह से बाऊजी को भाखड़ा डैम पर नौकरी करनी पड़ी। उनके वहां जाने से पहले हम लोग पहले मेरे ननिहाल खरड़ (चंडीगढ़), फिर छोटे नाना के पास दिल्ली गए। खरड़ में मामाजी ने मुझे नानाजी (गांधीजी के साथी रहे और पंजाब के स्वाधीनता-संग्राम के नेताओं में से एक बैरिस्टर स्व. अमरनाथ कौशिक) की लाइब्रेरी से विवेकानंद-साहित्य का सैट (हिंदी में) दिया। दिल्ली में बाऊजी ने मुझे बहुत सारी सोवियत पुस्तकें खरीद दीं। विवेकानंद के अलावा, मेरे ऊपर गोर्की का भी बहुत प्रभाव पड़ा, खास तौर से उनकी आत्मकथा के पहले खंड 'मेरा बचपन' और 'मां' का। किताबों के दुखभरे वर्णन पढ़कर और सिनेमा में भावुक-प्रसंग देखकर मैं फूट-फूटकर रोता और दूसरों का मजाक बनता! यह आदत अब भी नहीं गई! दूसरों की नजर बचाकर गीली आंखें पोंछने की कला में अवश्य सिद्धहस्त हो गया हूँ। बाऊजी नंगल टाऊनशिप (भाखड़ा डैम) जाने से पहले हमें

नवांशहर दोआबा (हमारा घर : मेरा तो जन्मस्थान) छोड़ने गए। अपनी गोल बैठक, मेज-कुर्सी और लाइब्रेरी सौंपकर बड़े-बड़े मोटे रजिस्टर दे गए कि इसमें पढ़ी गई किताबों के बारे में संक्षेप में लिखो।

दिल्ली की एक अविस्मरणीय स्मृति और है। वहां हम बाऊजी के लाहौर के क्लासफैलो और क्रांतिदल (HSRA) के साथी सच्चिदानंद वात्स्यायन से मिलने गए (उन्हें महान लेखक 'अज्ञेय' के रूप में मैंने बहुत बाद में जाना)। उन्होंने मुझे बहुत ही सुंदर चिकने कागज पर छपी बड़े आकार की रंगीन किताब दी। इसमें यूरोप के विभिन्न देशों के मशहूर दर्शनीय स्थलों के बड़े ही मनोहर चित्र थे, साथ ही, अंग्रेजी में संक्षिप्त परिचय के अलावा वहां पहुंचने के यात्रा-मार्ग भी। इस पुस्तक में मैंने पहली बार बर्फ, समुद्र, शिप, हवाई जहाज का भीतरी दृश्य और ऊंचे पहाड़ों के बीच हवा में चलने वाली ट्रालियां देखीं। चित्रों में ही जंगल, बगीचे और भांति-भांति के फूलों से भरे विशाल मैदान भी। अनेक वर्षों तक मैं और मेरी बहन (प्रवीण) इस जादुई किताब में घुसकर यूरोप के विभिन्न देशों की यात्राएं करते रहे! हवाई जहाज छूट गया तो शिप से या ट्रेन से, जो हमारी ट्रेनों से बड़ी लंबी और तेज रफ्तार दिखती, गंतव्य तक पहुंचते! ट्राली टूटकर लटक जाती, तो हम किसी तरह दुर्गम जंगलों से पैदल या बर्फाले पहाड़ों से स्कीईंग करते हुए पहुंचते! विशाल गिरजों में प्रार्थनाएं करते! तरह-तरह के किलों को जीतने के लिए काल्पनिक युद्ध करते! वर्षों तक यह किताब हमारी सबसे प्यारी किताब और वह 'यात्राएं' सबसे मनोरंजक खेल बने रहे।

नंगल टाऊनशिप जाने से पहले साल-सवा साल तक मैंने बाऊजी की लाइब्रेरी तकरीबन चाट डाली। बाऊजी मोटी-मोटी दो डिक्शनरियां दे गए थे, पर मैं कथारस में बाधक मान, उनका इस्तेमाल कम-से-कम करता। प्रसंग समझकर अर्थ निकाल लेता। स्कूल जाता नहीं था। मेरा सबसे दुखदायी वक्त सुबह-शाम आने वाले दोनों ट्यूटरों का साथ होता। किताबों और मेरे बीच वे मेरे सबसे बड़े शत्रु लगते! मैं और मेरी बहन उन्हें खूब गंदी-गंदी गालियां देते (छिपकर और धीमे सुरों में), जो हमने अपने नौकर



बंसू और बाबा (पं. विशुद्धानंद) से सीखी थीं। बाबा के हरेक वाक्य में, प्रत्येक जीव-निर्जीव के लिए विशुद्ध गालियों की मौलिक नक्काशी होती थी! ट्यूटर्स को भगाने के तमाम नाकाम प्रयासों के बाद, आखिरकार हमारा षड्यंत्र सफल हो गया। उन्होंने पाठ्यपुस्तक के कवर के नीचे छिपा उपन्यास ही नहीं देखा, बहन की दी गाली भी सुन ली। हल्की चपत पर हम दोनों इतना चीख-चीखकर रोए कि बाबाजी ने उसी दिन से दोनों भलेमानुषों की छुट्टी कर दी। विशुद्ध गालियों के साथ! बस, फिर तो मैं था और मेरे प्यारे दोस्त! इस दौरान मैंने डिक्सेंस, डेफो, स्विफ्ट, फील्डिंग, वाल्टर स्काट, थैकरे, जेन ऑस्टिन, एच. जी. वेल्स, बालजाक, फ्लाबेयर, जोला, सिंकलेयर (अप्टन और लुई), जूल्स बर्ने, जैक लंडन और हेमिंग्वे के मौजूद लगभग सारे उपन्यास पढ़ डाले। शेक्सपियर के नाटक भी। कविताएं मेरे पल्ले बिल्कुल नहीं पड़ती थीं, सो वे और उर्दू की किताबें छोड़कर। इनमें सबसे ज्यादा मुझे 'ऑलिवर ट्विस्ट', 'टेल ऑफ़ टू सिटीज़', 'डेविड कॉपरफील्ड' (डिक्सेंस), 'आइवन हो', 'तालिसमान' (स्काट), 'टॉम जॉस' (फील्डिंग), 'टू थाउजेंट माइल्स अंडर सी' (जूल्स बर्ने), 'ओल्ड गोरियो' (बालजाक), 'फॉर हूम दी बेल टॉल्स' (हेमिंग्वे) और बाद में कुछ और बड़ा होने पर 'ओल्ड मैन एंड दी सी' तथा 'दी काल ऑफ़ दी वाइल्ड' तथा 'व्हाइट फ़ैंग' (जैक लंडन) पसंद आए, जिनके बारे में मैंने रजिस्टर में (हिंदी में) लिखा भी। पापा गोरियो बार-बार पढ़कर मैं फूट-फूटकर रोता! आज भी इन उपन्यासों और उनके चरित्रों की गहरी अमिट छाप मेरे मन पर है। शेक्सपियर के मुझे 'हैमलेट' और 'मैकबेथ' इतने पसंद आए कि हम उनके दृश्यों का अभिनय करते! वेशभूषा के लिए मां की कई कीमती साड़ियां, चमकीली चुन्नियां और खूबसूरत पर्दे तक फाड़ डाले!

बाऊजी हमें नंगल ले गए, जो मुझे बिल्कुल पसंद नहीं आया। न वहां के सरकारी क्वार्टर में शानदार गोल कमरा और लाइब्रेरी थी और न ही दिन-रात पढ़ने की आजादी। खासी बड़ी उम्र में मुझे स्कूल में भर्ती करा दिया गया। यहां मेरा परिचय कुछ नई तरह की किताबों से हुआ। यहां बाऊजी के पास कॉनन डॉयल के 'शरलाक होम्स' सिरीज का

पूरा सैट और हिंदी में बाबू देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता', 'चंद्रकांता संतति', 'भूतनाथ', 'रोहतासमठ' और इब्ने शफी के डेरों जासूसी उपन्यासों का जखीरा था। फ़ौरन मैं इन तिलिस्मी और जासूसी किताबों का दीवानगी की हद तक 'एडिक्ट' हो गया। रात-दिन चोरी-छिपे यही पढ़ता! आज भी कोई अच्छी-सी जासूसी किताब मिल जाए, तो विश्व-साहित्य की महान से महान किताब फेंककर उसे झपट लूंगा और एक ही सिटिंग में खत्म किए बिना नहीं हिलूंगा। आप कह सकते हैं कि हिंदी मैंने मां से और खत्रीजी से सीखी। कुछ मायनों में इब्ने शफी के उपन्यासों से भी। सरल प्रवाहपूर्ण गद्य और मनोरंजक ढंग से कहानी कहने की विलक्षण कला! यहीं मैंने 'एक्सचेंज' में अपने एक सहपाठी से लेकर टारजन सिरीज के उपन्यास भी पढ़े। अब मैं कभी टारजन बनकर अफ्रीका के जंगलों में जाने की कल्पनाएं करता, तो कभी शरलाक होम्स और कर्नल विनोद की तरह 'महान जासूस' बनने का इरादा करता! होम्स की तरह कई किस्म के ऊल-जुलूल प्रयोग भी करता और कई बार अपने 'इन्वेस्टिगेशंस' से लोगों को चकित भी कर देता। मेरा पक्का दोस्त राणा मेरा 'डॉ. वॉटसन' होता! इन किताबों से दो भयानक दुर्घटनाएं भी जुड़ी हुई हैं। टारजन की एक बार पेड़ से गिरकर दाहिनी बांह टूटी। एक बार अंबाला में अपने फूफाजी (जनकराज जो वहां एस.पी. थे) की लोडेड रिवाल्वर चुराकर 'अपराधियों' का पीछा करते कर्नल विनोद पकड़े जाने पर थप्पड़ खा गए। बाऊजी ने यह पहली बार हाथ उठाया था। लौटकर सारी जासूसी किताबें रद्दी में उठवा दीं। फिर, कुछ वर्ष यमुनानगर (जगाधरी) रहकर हम नवांशहर लौट आए। यमुनानगर में मैंने पेपरमिल और शुगरमिल के मजदूरों के जुलूस, उनकी हड़तालें और बाऊजी के पास आने वाले यूनियन नेताओं में कम्युनिस्ट देखे। उन्हीं में से एक कामरेड नछत्तरसिंह मेरे पक्के दोस्त बन गए और उन्होंने मेरे जन्मदिन पर मुझे जॉन रीड की 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' दी। बाऊजी ने मुझे गोर्की की आत्मकथा के तीनों भाग और 'मां' खरीद दी। साथ ही इंदिरा गांधी के नाम नेहरूजी के पत्र और एक रूसी लेखक एलेक्जेंडर रस्किन की किताब 'व्हेन पापा

वाज ए चाइल्ड' भी खरीद दीं। मैं इन्हें बार-बार पढ़ता। गोर्की के 'मेरा बचपन' ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया।

लगभग तीन-साढ़े तीन साल नवांशहर रहते मैं अब कान्वेंट की जगह सरकारी स्कूल में पढ़ता था। इसने मुझे पूरी तरह बदल दिया। कान्वेंट के अंग्रेजी माहौल और नकली वातावरण की जगह मैं इस खांटी देसी माहौल में जैसे अपने पसंदीदा उपन्यासों और उनके चरित्रों के संसार में पहुंच गया था। उनके पंजाबी और देसी रूपांतरण के साथ। इस पूरे अर्से में मैंने फिर बाऊजी के पास, उनकी मदद से अपनी पसंदीदा किताबों को समझा। हम अपने आस-पास के लोगों और मिलने-जुलने वालों को उनके चरित्र के अनुरूप विश्व-साहित्य की इन महान कृतियों के पात्रों के नाम दे देते। उनको लेकर उपयुक्त संवाद चर्चा करते। हमारे 'कोड-वर्ड' कोई भी नहीं समझ पाता, सिवा हमारे! इस तरह, इन तीन-साढ़े तीन वर्षों के दौरान मैं एक बार फिर बाऊजी के साथ विश्व-साहित्य की इन अमर कृतियों में डूबते-उतराते उन्हें आत्मसात कर सका। इस बार कुछ ज्यादा समझ-परखकर। इस अध्ययन की मुझ पर गहरी छाप पड़ी, जिसने मेरे आगे के जीवन में भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इसी दौर में मैंने प्रेमचंद के उपन्यास और उनकी 'मानसरोवर' की सारी कहानियां पढ़ डालीं। प्रेमचंद के बाद के उपन्यासों में 'झूठा-सच' (यशपाल) और अमृतलाल नागर के उपन्यासों 'अमृत और विष', (बाद में) 'मानस के हंस', 'खंजन नयन' और 'नाच्यौ बहुत गोपाल' तथा भीष्म साहनी का 'तमस' और कृष्णा सोबती के 'जिंदगीनामा' मुझे बेहद पसंद आए, जिनमें से कुछ पर मैंने लिखा भी। तुकबंदियां तो मैं बहुत पहले से करता रहा था, अब मैंने कहानियां लिखनी भी शुरू कीं। इसी दौर में मेरी रुचि कविता की ओर मुड़ी और बाऊजी मुझे होमर की 'इलियाड' और 'ओडिसी' तथा ग्रीक त्रासदियों की कहानियां सुनाने के साथ ही मिल्टन, रोमैंटिक कवियों और प्रि-रैफ़लाइट्स की कविताएं पढ़कर सुनाते। यहीं से मेरी व्यक्तिगत रुचि भी बननी शुरू हुई और बाऊजी से भिन्न पसंद भी। मुझे शेली और जॉन डन की कविताएं ज्यादा अच्छी लगतीं, उन्हें कीट्स और मिल्टन

की। मुझे 'मैकवेथ' और 'हेमलेट' ज्यादा पसंद थे, उन्हें 'किंग लियर'। बालजाक हम दोनों की पसंद था, खासकर पापा गोरियो; पर उन्हें गोगोल, तोल्सतय और चेखव ज्यादा पसंद थे, मुझे गोर्की और दॉस्तोयवस्की। मुझे रोजेटी भी बहुत पसंद थे। किंगलियर, चेखव और तोल्सतय तक मैं (गोर्की को पार करके) बहुत बाद में पहुंच पाया। वह भी बाऊजी की मदद से ही। इसी तरह मिल्टन और दांते तक, लेकिन इस दौर में जिन दो उपन्यासों ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया, वे थे हार्वर्ड फॉस्ट के (अमृत राय कृत अनुवाद) 'आदि विद्रोही' और 'समरगाथा'। साथ ही नेमिचंद्र जैन कृत अनुवाद में 'जूलियस फूचिक की डायरी'। इन्हें अब भी बार-बार पढ़ता हूँ।

जब हम तकरीबन हमेशा के लिए पंजाब छोड़कर मध्य प्रदेश आ गए, तो मेरे व्यक्तित्व में निर्णायक तब्दीलियां आईं। पहले रामनगर कोलियरी (बिजुरी), फिर कोतमा (शहडोल) में। मैं पढ़ने के साथ-साथ अब खूब कविताएं-कहानियां लिखने लगा। दो अदद उपन्यास भी शुरू कर दिए। आठवें दर्जे में 'मास्टर साहब' (कवि-लेखक और व्यंग्यकार मोहन श्रीवास्तव) के संपर्क में आने पर, आप कह सकते हैं कि मेरा पूर्णतः 'व्यक्तित्वांतरण' हो चुका था। लगभग दो साल मैं मास्टर साहब के पास ही रहा। उनके साथ मेरा लगभग एक बिल्कुल ही नई दुनिया से साक्षात्कार हुआ। अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध की कविताएं और मोहन राकेश, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा के कथा-साहित्य के साथ ही हरिशंकर परसाई के व्यंग्य-साहित्य में मुझे एक नया संसार मिला। मास्टर साहब के पास आने वाली तमाम पत्रिकाओं, 'कल्पना', 'कृति', 'लहर', 'कहानी', 'नई कहानियां' और 'ज्ञानोदय', फिर 'माध्यम' तथा आगे चलकर 'आलोचना' और ढेर सारी लघु पत्रिकाओं ने मेरे समूचे साहित्यिक संस्कार बदल डाले। कविता में मेरे आदर्श यदि अज्ञेय थे, तो कथासाहित्य और गद्य में अब निर्मल वर्मा। मैं इन्हीं जैसा लिखने की कोशिश करता, पर मेरे 'हीरो' निराला थे, जिनके किस्से मुझे रस्तोगी सर (जो इलाहाबाद के थे) रोज सुनाते! उनकी कविता से भी ज्यादा उनका व्यक्तित्व मुझे आकर्षित करता। मास्टर साहब के माध्यम से ही मैं विपुल सोवियत

साहित्य, मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट पार्टी के संपर्क में आया। एक तरह से उनके सान्निध्य में और उनकी मदद से ही मैंने मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की कृतियों का विधिवत और गहन अध्ययन आरंभ किया, जो आगे भी निरंतर जारी रहा।

लगभग ढाई साल बाद जब हम लोग पन्ना चले गए, तो छुट्टियों में या तो मैं शहडोल आता अथवा मास्टर साहब पन्ना आते। उनके जीवन-पर्यंत मेरा उनसे घना संपर्क बना रहा। उन्हीं के पास मैंने दर्शन इतिहास और राजनीतिक अर्थशास्त्र की गंभीर कृतियों का अध्ययन किया। इस दौर में (लगभग छह साल के पन्ना-प्रवास के दौरान) मैंने हिंदी में उपलब्ध मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन और माओ की संकलित रचनाओं और 'पूजी' (भाग एक) का अध्ययन किया। इनमें से एक-एक किताब का मेरे जीवन के विभिन्न मोड़ों में, मेरे चिंतन और कर्म में अत्यधिक महत्त्व है। मुझे पटरी पर लाने और भ्रमांधकार को छंटने में। विशेषकर क्रांति के प्रश्नों पर भारतीय संदर्भों में। इन 'क्लैसिक्स' में भी मुझे सबसे ज्यादा पसंद थे मार्क्स की '1844 की आर्थिक-दार्शनिक पांडुलिपियां', एंगेल्स की 'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर' और लेनिन की 'क्या करें?'

पन्ना के छह साल के प्रवास में मैंने साहित्य और मार्क्सवाद-लेनिनवाद का डटकर अध्ययन किया, साथ ही भारतीय इतिहास का भी। यहीं मैंने कम्युनिस्ट पार्टी की जिला इकाई गठित कर किसानसभा, ट्रेड यूनियन के व्यावहारिक कामों के साथ-साथ बी.ए. (अंतिम वर्ष तक) की पढ़ाई की। यहां अध्ययन में, व्यावहारिक आंदोलन में भी, मेरी सहायता कामरेड विनोद जोशी (का. पूरनचंद्र जोशी के छोटे भाई और पूर्व-विंध्य प्रदेश पार्टी के सचिव) ने की। वे जीवन-पर्यंत मेरे घनिष्ठ बुजुर्ग दोस्त रहे। पन्ना-प्रवास के दौरान ही मैं कई बार जबलपुर जाने पर परसाईजी और पार्टी सचिव का. महेंद्र वाजपेयी तथा का. प्रसन्न कुमार ठाकुर के घनिष्ठ संपर्क में आया। इसी दौर में मैंने मुक्तिबोध और शमशेर के साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और वे निराला के बाद मेरे सबसे प्रिय कवि बन गए (जो आज भी हैं); अज्ञेय पीछे छूटते गए! जब परिवार स्थायी रूप से 1969 में

जबलपुर आ बसा तो परसाईजी और का. महेंद्र वाजपेयी ने मेरे सर्वतोमुखी अध्ययन को सही दिशा और व्यवस्था दी। इस दौर में मेरी सबसे प्रिय पुस्तकें थीं : 'चांद का मुंह टेढ़ा है', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'भारत : इतिहास और संस्कृति' (मुक्तिबोध), 'कुछ कविताएं', 'कुछ और कविताएं', 'दोआब' (शमशेर), 'इंडिया : फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टू दी एंड ऑफ स्लेवरी' (डांगे), 'इंद्रोडकशन टू दी इंडियन हिस्ट्री' (कोसंबी) और दो खंडों में 'ग़ालिब के पत्र'। ग़ालिब और मीर की शायरी भी।

परसाईजी और का. महेंद्र वाजपेयी के निकट सान्निध्य में ही एक तरह से मेरे साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण हुआ और एक कम्युनिस्ट के रूप में 'पेशेवर क्रांतिकारी' बनने की सैद्धांतिक और व्यावहारिक दीक्षा भी। मास्टर साहब मोहनजी तो थे ही! यहीं मैंने बाबूजी (मायाराम सुरजन) के मार्गदर्शन में पत्रकारिता की शुरुआत की। जबलपुर में एक नई बात यह हुई कि हिंदी आलोचना से मेरा पहला-पहला संपर्क हुआ। परसाईजी ने मुझे डॉ. रामविलास शर्मा की 'निराला की साहित्य साधना' (पहला और दूसरा भाग) तथा डॉ. नामवर सिंह की 'कविता के नए प्रतिमान' दीं। इन पुस्तकों ने एक तरह से मुझे बदल ही डाला। आज भी ये मेरी सबसे प्रिय पुस्तकें हैं, जिन्हें मैं बार-बार पढ़ता हूँ। इसके बाद तो मैंने रामविलासजी और नामवरजी की सब पुस्तकें खोज-खोज कर हासिल कीं। इसी दौर में मेरा संपर्क ज्ञानरंजन और अशोक वाजपेयी से भी हुआ (जो पहले सीधी, फिर अम्बिकापुर कलेक्टर रहने के बाद जबलपुर रुककर डिप्टी-सेक्रेट्री होकर भोपाल गए थे)। मैंने ज्ञानजी की 'फेंस के इधर और उधर' तथा अशोकजी की 'शहर अब भी संभावना है' और 'फिलहाल' भी तब बहुत पसंद की थीं। ज्ञान तो मेरे 'टीचर' ही नहीं, अंतरंग मित्र भी बन गए। हम उन दिनों उनकी 'घंटा' और 'बहिर्गमन' कहानियों के दीवाने थे और उनके घर को 'पेट्रोल' कहने लगे थे।

मैं दैनिक 'जनयुग' निकालने के लिए लेक्चररशिप छोड़कर, पार्टी का 'होलटाइमर' बनकर 1973 में दिल्ली आया, तो एक तरह से मेरी दुनिया ही बदल गई। साहित्य, राजनीति

# यथार्थ से यथार्थ तक

सुभाष शर्मा

के व्यावहारिक और सैद्धांतिक अनुभव को यहां गंभीर अध्ययन, व्यापक मित्र-मंडली से बहसों और कार्यकलापों से नई और पुख्ता दिशा मिली। मार्क्स-एंगेल्स के अद्यतन छपे 'क्लेक्टेटेड वर्क्स' और लेनिन के संपूर्ण 'क्लेक्टेटेड वर्क्स' और ग्राम्सी की पुस्तकों तथा पार्टी मुख्यालय में विश्व-कम्युनिस्ट आंदोलन के और भारतीय आंदोलनों से संबंधित तमाम दस्तावेजों और पुस्तकों के अध्ययन में डूब गया। इतिहास और राजनीतिक अर्थशास्त्र की समझ के लिए नेहरूजी की पुस्तकों (खासकर 'भारत की खोज' और 'विश्व इतिहास की झलक') तथा प्रो. रामशरण शर्मा, प्रो. विपिनचंद्रा और प्रो. कमलनयन काबरा की पुस्तकों की (जिनसे दोस्ती और अंतरंगता से व्यक्तिगत मार्गदर्शन) और साहित्य की समझ के लिए मैं डॉ. रामविलास शर्मा और अपने 'गुरुजी' (डॉ. नामवर सिंह) के साहित्य और उनके स्नेहपूर्ण मार्गदर्शन का अपने जीवन-पर्यंत ऋणी रहूंगा। यहां अपने एक अन्य अभिन्न मित्र का जिक्र करूंगा, जिनकी पुस्तकों और बहस-मुबाहिसों की बदौलत हिंदी साहित्य ही नहीं, साहित्य-मात्र के प्रति मेरा दृष्टिकोण निरंतर बदलकर सही और संतुलित बना! वे हैं मेरे अभिन्न आत्मीय, मित्र और रामविलासजी-नामवरजी के बाद हिंदी के मान्य समालोचक नंदकिशोर नवल।

अंत में, अगर किसी व्यक्ति का अध्ययन खुद उसके लेखन के रूप में सामने नहीं आ पाता, तो वह व्यर्थ है, उसकी कोई सामाजिक उपयोगिता नहीं। बकौल मुक्तिबोध 'लिया बहुत-बहुत, दिया बहुत कम'! मैं जो भी लिख रहा हूँ और मेरी जो भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, यह सब कुछ कभी न हो पाता, अगर मेरे प्यारे दोस्त 'युगलजी' (भारत भारद्वाज) का कोंचना और उनके सक्रिय प्रयास न होते! फिर नवलजी का दबाव तो सदा रहता ही है! कहना न होगा कि 'शब्द' और 'कर्म' तथा 'सिद्धांत' और 'व्यवहार' की एकता और दोनों में द्वैतात्मक संबंध तो कम्युनिस्टों के आदर्श होते ही हैं, भले ही वे पार्टी के सदस्य हों या नहीं!! अस्तु, इत्यलम्...

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096 मोबाइल : 09891250940

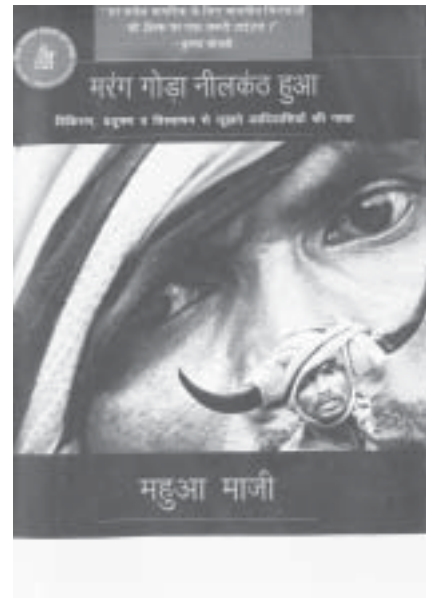
म

हुआ माजी का सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' तथाकथित विकास की बलिवेदी पर चढ़ाए गए धरती पुत्रों/पुत्रियों के नाम समर्पित है। यह दावा भी किया गया है कि इसमें स्थान, पात्र, कंपनी, खदान, मिल, टेलिंग डैम, नदी, घटनाएं, विचार, आंदोलन आदि काल्पनिक हैं। सामान्यतः जब-जब और जहां-जहां ऐसे दावे किए जाते हैं, तब-तब और वहां-वहां यथार्थ चारों ओर पसरा रहता है कृतियों में। और यहां जमशेदपुर, सारंडा, चाईबासा, सिंहभूम आदि स्थानों के नाम ही नहीं, बल्कि कई नेताओं, इतिहासकारों और विशेषज्ञों के वास्तविक नाम भी वर्णित हैं। सौभाग्य से सिंहभूम में मुझे आठ-नौ माह रहने का निजी अनुभव है, जहां की पृष्ठभूमि पर यह उपन्यास लिखा गया है। फिर आभार व्यक्त किया गया है छप्पन व्यक्तियों के प्रति, जिनके अलावा अंत में उपन्यासकार के मित्र, शुभाकांक्षी, परिवार के सदस्य और प्रकाशक भी हैं। इतना ही नहीं, कई पुस्तकों, पत्रिकाओं, लेखों आदि की सूची उपन्यास के अंत में दी गई है, मानो यह कोई शोध-प्रबंध हो। फिर तैंतीस अध्यायों में 402 पृष्ठों में फैला हुआ है यह उपन्यास।

पहले अध्याय 'पत्थरों का डॉक्टर' की शुरुआत होती है कि केंद्रीय पात्र सगेन को उसके ततंग (दादा) पत्थरों का डॉक्टर बनाना चाहते थे। सगेन नाम काफी सार्थक है, क्योंकि इसका अर्थ है 'फुनगी'। 'हो' आदिवासी समुदाय की 'हो' भाषा के शब्द-सामर्थ्य का अच्छा उदाहरण दिया गया है शुरू में ही : पहला, 'रूब'—जड़ समेत पेड़ का उखड़कर गिरना; दूसरा, 'होचः'—पेड़ पर चढ़े किसी व्यक्ति के भार से कोई शाख टूटना; तीसरा, 'चोएः'—पेड़ का तना जड़ सहित खड़ा हो, मगर ऊपर का हिस्सा गिरे; चौथा,

'रापुड़'—खड़े पेड़ की किसी डाली का तने के बाहरी आवरण को छीलते हुए गिर पड़ना; पांचवां, 'टोयः'—किसी फुनगी को तोड़ा जाना। इसी प्रकार 'जियंग' (दादी), 'मरंग' (बड़ा), 'येरा' (घर वाली), 'दिकु' (बाहरी आदमी)। 'डियंग' (चावल की शराब), 'तुपु मंडि' (बासी भात), 'अदिंग' (रसोई), 'मइ' (कुंवारी लड़की), 'ससनदिरी' (श्मशान), 'डिंडा सपेड' (कुंवारा), 'कुकु' (ताऊ), 'दुलसुनुम' (श्राद्ध), 'सेदरा' (शिकार), 'गिरा' (निमंत्रण), 'किलि' (गोत्र), 'दिउरी' (पुजारी) जैसे स्थानीय 'हो' भाषा के शब्द उपन्यास में प्रयुक्त हैं, जिससे उपन्यासकार की समाजशास्त्रीय एवं मानवशास्त्रीय समझ का पता चलता है। इससे उपन्यास की भाषा समृद्ध हुई है, फिर 'हो' का अर्थ ही होता है 'मनुष्य'। यह अत्यंत महत्वपूर्ण तथ्य है, मगर किलि शब्द को कहीं-कहीं 'किली' (पृ. 39), 'हात्' (गांव) को कहीं 'हत्' लिखा गया है।

उपन्यास का कथानक मरंग गोडा में यूरेनियम कारखाने में होने वाले दुष्प्रभावों पर केंद्रित है। उसमें केंद्रीय पात्र सगेन के दादा,



पिता, ताऊ आदि के जीवन के साथ-साथ उसके अपने एवं सामुदायिक जीवन की विसंगतियाँ, प्रेम, संघर्ष आदि का सम्यक् वर्णन है। आर्थिक तंगी के बावजूद ताऊ की मदद से वह स्नातक की शिक्षा प्राप्त करता है और 'हो' आदिवासी समुदाय की संस्कृति, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और पर्यावरणीय समस्याओं से रू-ब-रू होता है। जंगल में रहने-बसने वाले लोग जंगलों से नाना प्रकार के उत्पाद प्राप्त करते थे—फल, सब्जी, फूल, छप्पर के लिए घास, जड़ी-बूटियाँ, लकड़ी, खेती के लिए औजार आदि, मगर कुछ दशकों में ठेकेदारों व्यवसायियों/दलालों ने जंगलों की अवैध कटाई की और 'साल' (सखुआ) की जगह 'सागवान' के वृक्षों को सरकार ने लगवाया, जबकि 'साल' वृक्ष आदिवासियों के दैनिक जीवन से जुड़े हैं। जैसे चिनार के वृक्ष कश्मीर की पहचान के सूचक हैं, वैसे सखुआ के वृक्ष झारखंडी अस्मिता के। झारखंड में सखुआ की उपयोगिता के बारे में यह कहावत सटीक है : 'हजार साल खड़ा, हजार साल पड़ा और हजार साल सड़ा' (पृ. 316) झारखंडी बुधु भगत ने कहा था—'सखुआ के पेड़ में नए फूल आ गए हैं। आओ, अपने लहू से इन फूलों की आजादी की रक्षा करें।' (पृ. 316) यह आदिवासी वीरता का भी प्रतीक है।

फिर विधवा महिलाओं की संपत्ति हड़पने के लिए उन्हें 'डाइन' घोषित कर दिया जाता है और ओझा बताते हैं कि डाइन जिस पर नजर डाल दे, वही बीमार हो जाए, "भात या डियंग के साथ मिलाकर भी वह कुछ खिला सकती है। दूर से मंत्र फूंककर भी नाजोम कर सकती है। आदमी तो आदमी, जानवरों और पेड़-पौधों को भी नहीं बख्शा रही है वह।" (पृ. 125) वास्तव में, झारखंड में आदिवासी क्षेत्रों में डाइन प्रथा विकराल रूप में है। इसका यथेष्ट चित्रण सराहनीय है, मगर लेखिका ने कुछ लोककथाओं का भी उल्लेख किया है, जो 'हो' बुजुर्गों के माध्यम से बताई गई हैं, मगर वे कपोलकल्पित ज्यादा हैं। उदाहरणार्थ, असुरों के बारे में जिक्र आया है कि वे उस इलाके में लोहा निकालते-गलाते थे और उनसे खेती और गृहस्थी के औजार बनाते थे। एक बुजुर्ग महिला का कथन है, "हां, तो उन दिनों वे (असुर) उन इलाकों के हरे-भरे जंगल के पेड़-पौधों को काटकर लोहे की भट्टी में झोंका

करते। धीरे-धीरे बड़ी संख्या में जंगल के पेड़-पौधे नष्ट होने लगे। धुएं से होने वाले प्रदूषण के कारण जीव-जंतुओं का नाश होने लगा। सभी प्राणी परेशान हो उठे। सिंगबोंगा से प्रार्थना करने लगे कि वे उनकी रक्षा करें।" (पृ. 129)

महुआ माजी ने जानबूझकर ऐसा लिखा है अथवा अनजाने जनश्रुतियों को ज्यों-का-त्यों रख दिया है, यह कहना कठिन है, मगर एक बात तय है कि उनके नगर (रांची) के ही उपन्यासकार रणेन्द्र के उपन्यास 'गलोबल गांव के देवता' में असुरों के पतन के लिए पूंजीवादी व्यवस्था को जिम्मेदार बताया गया है, न कि जनश्रुति के आधार पर शाप जैसी भ्रामक बातें। यदि महुआ माजी ने उसे पढ़ा-समझा होता, तो ऐसी गलती नहीं होती। इस प्रकार उपन्यासकार की दृष्टि संकुचित, एकतरफा और तात्कालिक है। महुआ माजी ने एक आदिवासी समुदाय ('हो') की विरासत सकारात्मक/उच्चतर दिखाने के चक्कर में दूसरे आदिवासी समुदाय ('असुर') को नकारात्मक/निम्नतर दिखाने का अनावश्यक प्रयास किया है। सामाजिक जीवन में विरोधाभास होते हैं, इसमें संदेह नहीं, मगर जनश्रुतियों के आधार पर किसी वंचित समुदाय के पतन के लिए उन्हें ही दोषी ठहराना न तो न्यायसंगत है और न प्रगतिशील साहित्यिक सरोकार का परिचायक है। लेखिका समाजशास्त्र की विद्यार्थी हैं और समाजशास्त्रीय आग्रामों को उपन्यास में चित्रित किया है, मगर समाजशास्त्री का यह भी दायित्व है कि किसी भी व्यक्ति या समूह के दावों/कथनों/बयानों को वह सत्यापित करे तथा दूसरी प्रविधियों से जांच करे एवं दूसरे विद्वानों के शोधों से तुलना करे और आलोचनात्मक विश्लेषण से ही सही निष्कर्ष पर पहुंचें। आखिरकार यथार्थ यथास्थिति नहीं होता। लेखक को प्रगतिशील तत्व चुनने होते हैं, मगर अफसोस लेखिका ऐसा नहीं कर सकी।

इतना ही नहीं, पूर्वी सिंहभूम में यूरेनियम कारखाने से निकलने वाले विकिरण से विकलांगता बढ़ रही है, कैंसर, टी.बी., हृदय रोग आदि की वृद्धि हो रही है, महिलाएं प्रजनन से वंचित (बांझ) हो रही हैं आदि। सगेन का यह सवाल हमें भीतर से झकझोर देता है, "यह कैसी विडंबना है कि हमारी

औरतें बांझ हो रही हैं, हमारे बच्चे विकलांग पैदा हो रहे हैं, हमारे लोग जवानी में ही कैंसर या टी.बी. से मर रहे हैं और हम इसके विरोध में आवाज उठाते हैं, कोई कदम उठाते हैं, तो देशद्रोही करार दिए जाते हैं। कमाल है। यह कैसा लोकतंत्र है? यह कैसी सभ्यता है?" (पृ. 249) उपन्यासकार ने कथानक की डोर को व्यापकता प्रदान की है जापान से जोड़कर, जहां परमाणु विरोधी संगठन सक्रिय है। परमाणु संयंत्रों के विरुद्ध, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान 6 अगस्त, 1945 को हिरोशिमा और नागासाकी में अमेरिका द्वारा किए गए बम प्रहार से एक लाख चालीस हजार लोगों की मौत हो गई थी और आज भी वहां के 'हिबाकुश' (हिरोशिमा-नागासाकी में बम प्रहार से बचे लोग) उस घटना की याद करके थर्रा उठते हैं। वहां हिरोशिमा पीस म्यूजियम में पिघली हुई साइकिलें, जली किताबें, जली-पिघली हुई बुद्ध की प्रतिमा, दीवार घड़ी की रुकी हुई सुइयां आदि मौजूद हैं, जो दर्शकों के मन, शरीर और आत्मा को विचलित कर देती हैं तथा भविष्य के लिए परमाणु बम से बचने के लिए सावधान भी करती हैं। जापान के लोग इस महाविनाश में मर गए पूर्वजों की याद बराबर करते हैं और दूसरी ओर झारखंड के 'हो' समुदाय के लोग 'मागे : पोरुब' (पर्व) में अपने पूर्वजों को याद करते हैं। दो दूर देशों की सांस्कृतिक विरासत में ऐसा साम्य मानवता की विलक्षण थाती है, जिससे सीख लेने की महती आवश्यकता है। प्रज्ञा को आदित्यश्री ने समझाया कि यद्यपि वह वैज्ञानिक नहीं है, मगर विश्वास का सवाल है—स्त्रियों पर देवी की छाया होना, मगर उसने यह भी जोड़ा कि अत्याधुनिक लोग डिस्को या पब में जाकर नाचते हैं और कृत्रिम कृत्य करते हैं, जबकि आदिवासियों में सहजता है : 'इनका चलना ही नृत्य और बोलना ही गीत है। यहां के स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े, सभी जन्मजात कलाकार होते हैं।' (पृ. 279) यह कथन बिल्कुल सही है। 'हो' समुदाय की सांस्कृतिक-सामाजिक समृद्धि का सूचक है, यह तथ्य जब किसी पेड़ में मात्र दो ही फल हों, तो बुजुर्ग कहेंगे कि एक तोड़ लो और एक छोड़ दो पक्षियों के लिए। (पृ. 290) इतना ही नहीं, सिंहभूम के बाघों की तरह वहां के लोग मस्तमौला प्रकृति के होते हैं—स्वभाव से किसी की गुलामी पसंद नहीं करते। उनमें बहुत

ज्यादा की चाहत नहीं होती। वे सीमित साधनों से सुखमय जीवन जीने की कला जानते हैं। 1820 में 'हो' लोगों ने पोडाहाट राजा के विरुद्ध संघर्ष किया था और 1831-32 तथा 1836 में अंग्रेजों और आस-पास के राजाओं के विरुद्ध लड़ाई लड़ी। अंततः वे अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के शिकार हुए तथा 1837 में अंग्रेजों ने सिंहभूम पर अधिकार कर लिया, मगर विल्किंसन नियमों के तहत 'हो' मानकी-मुंडा को ग्रामीणों से मामूली लगान वसूल कर शासन के खजाने में जमा करना अनिवार्य बना दिया गया। इसके बदले में उन्हें जमीन दी गई और उनका लगान भी माफ कर दिया गया। यही 'हो' समुदाय में विषमता का बीज था। अस्तु, असंतोष भी पैदा हुआ।

एक प्रसंग बहसतलब है। उपन्यासकार ने 'हो' समुदाय की प्रगति और तकनीकी को हड़प्पा और सिंधु घाटी की सभ्यता से जोड़ा है। 'हो' लोग बड़ी-चौड़ी ईंटें प्राचीन काल से बनाते रहे हैं और सुखाकर (बिना पकाए) इनसे घरों की दीवारें बनाते हैं। ईंट की समानता सिंधु घाटी और हड़प्पा सभ्यताओं से दिखाई गई है। दूसरे, हड़प्पा को 'हो रप्पा' (मृत व्यक्ति को जलाना) से जोड़ा गया है। तीसरे, 'मोहनजोदड़ो' (जो वास्तव में 'मुअन जोदारो' है) को 'हो' भाषा के 'मोहे जोदरू' (अच्छे फलों का पेड़) से जोड़ा गया है। प्रज्ञा ने भी हामी भरी, क्योंकि उसने ऐसी कोई किताब पढ़ी थी कि मुअन जोदारो और हड़प्पा की खुदाई में मिली चित्रलिपि, भित्तिचित्र, पुरातात्विक अवशेष आदि का सादृश्य 'हो' घरों में भी पाया जाता है। फिर जयपाल सिंह मुंडा ने किसी स्थानीय आदिवासी को बताया था कि पाकिस्तान के एक संग्रहालय में मिट्टी के घड़े में हल्दी लगी अस्थियों को उन्होंने देखा था और ऐसा रिवाज हो-मुंडा समाज में ही है। (पृ. 301) फिर मुंडा लोगों (जिनकी उपजाति 'हो' है) के लोकगीतों और धर्मगाथाओं में 'सिंधु दिशुम' का उल्लेख है, मगर तथ्य है कि इतिहासकारों ने अभी तक सिंधु घाटी सभ्यता की लिपि को पढ़ने में सफलता नहीं पाई है, दूसरे अकाट्य साक्ष्य भी नहीं सिद्ध हुए हैं। अस्तु, सिंधु घाटी सभ्यता और हड़प्पा सभ्यता से 'हो' आदिवासियों को जोड़ना (पृ. 308, 310 एवं 311) दूर की कौड़ी ही है। 'हो'

समुदाय की समस्याओं की व्यापकता और गहराई दिखाने के लिए उनका सांस्कृतिक सादृश्य किसी प्राचीन सभ्यता से होना या दिखाना जरूरी नहीं है। इतना ही नहीं, उपन्यासकार ने सगेन के माध्यम से कहलाया है कि 'हो' लोगों ने सिंहभूम में रह रहे गृहस्थ जैनी (सराक और भुइयाँ) को हराकर उसे अपनी वासभूमि बनाया (पृ. 309)। यह अत्यंत जटिल सवाल है। एक ओर सगेन जैसे आदिवासी 'दिकुओं' को भगाना चाहते हैं, क्योंकि वे मूलवासी नहीं हैं और उन्होंने आदिवासियों का शोषण किया है—'हम' बनाम 'वे' का विरोधाभास। दूसरी ओर सगेन ही मानता है कि 'हो' सिंहभूम के मूलवासी नहीं हैं और उन्होंने मूलवासियों (सराक और भुइयाँ) को हराकर वहां कब्जा कर लिया और इसमें वे अपनी और अपने पूर्वजों की पीठ थपथपाते हैं विजय के लिए। जाहिर है, ऐसे में 'हो' समुदाय सिंहभूम का मूलवासी नहीं है और सराक एवं भुइयाँ लोगों का शोषक है। इसके अलावा सगेन किसी अज्ञात विद्वान (बिना नाम लिए) के जरिए कहता है कि आर्यों के आक्रमण के कारण ही 'हो' समुदाय को सिंधु घाटी से भागना पड़ा (पृ. 309)। इसे उपन्यासकार ने 'जड़ों की ओर लौटना' कहा है, मगर प्रो. रोमिला थापर जैसे इतिहासकारों और डॉ. रामविलास शर्मा जैसे साहित्यिक इतिहासकारों ने आर्यों के बाहर से भारत आने के सिद्धांत को मिथक और भ्रांति माना है, यथार्थपरक तथ्य नहीं, मगर उपन्यासकार को दूर की कौड़ी लाने का शौक लगातार रहा है। तभी तो वह चारिबा के माध्यम से कहती है, 'जब भारत मडागास्कर से जमीन से जुड़ा हुआ था, तब मुंडा लोग स्थल मार्ग या समुद्री मार्ग से अरब होकर उत्तर-पश्चिम से आए थे।' (पृ. 309) कौन विश्वास करेगा इस पर? माना कि साहित्यकार वैज्ञानिक नहीं होता, मगर उस पर वैज्ञानिक का भूत सवार भी नहीं होना चाहिए, उपरोक्त दृष्टांतों के जरिए।

इस उपन्यास में बहुत सारे अन्य विरोधाभास भी हैं। जो शोधार्थी (प्रज्ञा) स्त्रियों के शरीर पर देवी की छाया को नहीं मानती, वही आगे बताती है कि लंदन में भी कई इलाकों में भूत बंगलों की रहस्यमयी घटनाओं पर लोग आज भी विश्वास करते हैं, टेलीविजन चैनलों पर इसके पक्ष में प्रमाण दिए जाते हैं।

फिर वह समाजशास्त्र के जनक (जो प्रत्यक्षवाद के प्रतिपादक थे) अगस्त कॉम्ट का हवाला देती है कि मनुष्य धर्मशास्त्रीय और तत्वमीमांसीय चरणों को पार करके वैज्ञानिक चरण में पहुंच चुका है, मगर ये तीनों चरण एक ही समय में और एक ही व्यक्ति में साथ-साथ पाए जा सकते हैं। जैसे वैज्ञानिक का अपने बीमार पुत्र को ठीक करने के लिए प्रार्थना करना। (पृ. 312) ऐसे सवालों को प्रमुखता देना अस्मितावाद को जरूरत से ज्यादा बढ़ावा देना है, जबकि मुख्य मुद्दा है परमाणु कारखाने से विकिरण के कारण होने वाली समस्याएं, जो पर्यावरणीय और सामाजिक दोनों प्रकार की हैं, मगर उपन्यासकार दिखाती हैं कि डाक बंगला के लॉन में चांदनी रात में पेड़ों से विभिन्न आत्माएं/छायाएं नीचे उतरती हैं, जिनमें अंग्रेज और आदिवासी स्त्री-पुरुष थे—अंग्रेज साहब शराब पी रहे थे और खाना खा रहे थे, जबकि आदिवासी छाया मांदर बना रही थी; बंदूक की नोक पर लड़कियों को नचाया जा रहा था और नग्न किया जा रहा था तथा विरोध करने वालों को गोली मारी जा रही थी। इसे सगेन अंग्रेजों के खिलाफ हुए विद्रोह से जोड़ रहा था और उसके पीछे अंग्रेजों द्वारा आदिवासी औरतों का शोषण एक कारण था। (पृ. 314) क्या अतीत को सपनों के जरिए कथानक में लाना बेहतर नहीं होता, बनिस्वत छायाओं और मृत आत्माओं के?

आगे उपन्यासकार ने दिखाया है कि जापान के परमाणु वैज्ञानिक प्रो. बोयदे ने मरंग गोडा आकर जांच की और पाया कि वहां हवा में गामा किरणों की मात्रा अनुमान्य सीमा से दस गुना अधिक थी। दूसरे, संयंत्रों से मानव बस्ती की दूरी कम-से-कम पांच किमी होनी चाहिए, मगर वहां मात्र चालीस मीटर की दूरी पर बस्ती थी। तीसरे, यूरेनियम अयस्क सौ प्रतिशत निकाले जाने वाले पत्थरों से थोरियम, रेडियम, रेडॉन आदि नहीं निकालने पर वे बांध के पानी में जाएंगे ही तथा बांध का प्रदूषित जल जमीन के अंदर जा रहा है। चौथे, यूरेनियम अयस्क-खनन के दौरान निकले बेकार पत्थरों का उपयोग जिन घरों, सड़कों आदि में किया गया, वहां विकिरणजनित बीमारी से ग्रस्त लोगों की संख्या ज्यादा थी। सो उस रपट के सार्वजनिक होने पर कारखाना प्रबंधन ने सुरक्षा उपायों को बढ़ाया—बांध के

चारों ओर ऊंची दीवारें बनाई गईं तथा मनुष्यों/पशुओं का प्रवेश नियंत्रित कर दिया गया एवं ट्रकों को ढका गया अर्थात् आंदोलन को आंशिक सफलता मिली।

मगर जब कोई साहित्यकार पूरी तरह समाजशास्त्री या पत्रकार बनकर विभिन्न घटनाओं की सूची पेश करता है, तो साहित्यिकता बुरी तरह प्रभावित होती है, मगर दुर्भाग्यवश ऐसा ही हुआ है, इस उपन्यास के अध्याय 'फायर ऑफ द फारेस्ट' (गलती से 'ऑफ' लिखा है) में, जहां चौदह उग्रवादी घटनाओं की सूची पेश की गई है (पृ. 331-332)। माओवादी घटनाओं में क्रिया-प्रतिक्रिया का होना दिखाया गया है—एक माओवादी ईश्वरचंद को पुलिस द्वारा मारे जाने पर उग्रवादियों ने सारंडा में बड़े पुलिस दल पर हमला किया, जिसमें कई जानें गईं। लघु फिल्मकार आदित्यश्री ने उग्रवाद की जड़ में गरीबी, बेरोजगारी और विस्थापन को रेखांकित किया है। जिनकी जमीन ले ली गई, उनका पुनर्वास नहीं हुआ। एक प्रसंग में प्रजा ने अपनी विचारधारा चेखव के इस कथन के जरिए व्यक्त की, "मैं न उदारवादी हूं, न रूढ़िवादी, मैं एक स्वतंत्र कलाकार से अधिक कुछ भी होना नहीं चाहता, मैं हर प्रकार की हिंसा को नापसंद करता हूं।" (पृ. 338) आदित्यश्री ने इसे कूटनीतिक जवाब माना। फिर भी उपन्यासकार ने प्रजा के माध्यम से अपनी वैचारिक स्थिति स्पष्ट कर दी है, जो एक हद तक मान्य हो सकती है। खैर, आगे चर्चा की गई है कि परमाणु ऊर्जा की बजाय नवीकरणीय ऊर्जा (पवन, सौर ऊर्जा) बेहतर विकल्प है, जिससे प्रदूषण नहीं होता एवं विकिरण नहीं होता तथा पर्यावरण स्वच्छ बना रहता है। फिर परमाणु संयंत्रों से हम जितनी बिजली पैदा करते हैं, उससे दस गुना ज्यादा बिजली हम बिजली बांटने में की गई बर्बादी को रोककर बचा सकते हैं। इतना ही नहीं, पूरी दुनिया में यूरेनियम की मात्रा काफी कम है, जो अधिकतम एक सौ वर्षों तक ही उपलब्ध रहेगी। फिर परमाणु संयंत्र की सुरक्षा में काफी खर्च होता है। इसीलिए विवेकानंद का यह कथन सटीक है : 'जीवन में जो भी जरूरत से ज्यादा है, जहर है।' (पृ. 346) तथा 'सबको सुखी किए बगैर खुद भी सुखी नहीं हुआ जा सकता।' (पृ. 393)

उपन्यासकार ने उन भारतीय बुद्धिजीवियों

की आलोचना की है, जो विकास के नाम पर ऐसे खतरों को नजरअंदाज कर देते हैं तथा पीड़ितों को महज मुआवजा देने की बात कहकर छुट्टी पा लेते हैं। सगेन ऐसे बुद्धिजीवियों का विरोध करता है, जो महानगरों में विकिरण नहीं चाहेंगे, मगर आदिवासी/वन क्षेत्रों में ऐसा चाहते हैं। वह ऐसे बुद्धिजीवियों को 'मंदबुद्धि' मानता है। उपन्यासकार अंतिम दो-तीन अध्यायों में विकास के वैकल्पिक मॉडल की बात करती हैं, क्योंकि पूंजीवाद का मॉडल असफल हो चुका है अमेरिका और यूरोप में। अंतिम अध्याय में ग्यारह मार्च, 1911 को जापान में आए भूकंप और सुनामी की वजह से परमाणु आपातकाल का जिफ्र है, जब खतरनाक रेडियोधर्मी पदार्थों का रिसाव हुआ, जिससे लाखों लोगों ने शिविरों में पनाह ली। इसलिए आदित्यश्री के माध्यम से रवींद्रनाथ ठाकुर का कथन उद्धृत है, "मैंने पूरी दुनिया देखी, मगर नीचे घास पर बिखरी ओस की बूंदों को नहीं देखा। उस बूंद में ब्रह्मांड है।" (पृ. 398) अंत में, सगेन, अध्यक्ष मोआर (मरंगगोडाज ऑर्गनाइजेशन अगेंस्ट रेडिएशन) झारखंड की हैसियत से दुनिया भर के दोस्तों को इ-मेल भेजा, जिसका सारांश था, 'तुम विकसित लोगों के पास आज बेशक विकास के अलग-अलग उन्नत मॉडल हैं, मगर हमें पूरा यकीन है कि विकास का आदिवासी मॉडल ही इस धरती को, समस्त प्राणियों को बचा सकता है, वरना इस धरती पर हिमयुग आने में देर नहीं लगेगी। आओ दोस्तो! आज इस संकट की घड़ी में हम सब मिलकर विकिरण के खिलाफ आवाज उठाने का, अपनी धरती बचाने का संकल्प लें...' (पृ. 402)। अंत में, मोआर की ओर से विनम्र अनुरोध है : 'यूरेनियम को धरती के भीतर ही पड़े रहने दो। उसे मत छेड़ो, वरना सांप की तरह वह हम सबको डंस लेगा।' (पृ. 402) यही उपन्यास का अंतिम और बीज वाक्य है। निःसंदेह, इस उपन्यास की भाषा में प्रवाह है, मगर दृष्टि-संपन्नता भाषा से ज्यादा जरूरी है, किसी भी साहित्यिक कृति में।

इस उपन्यास को पूर्णता में परखने पर कई बातें साफ होती हैं : पहली, महुआ माजी जैसी कई लेखिकाएं कई कारणों से आलोचकों एवं संपादकों के सौजन्य से रचना की बजाय रचनाकार के कारण चर्चित होती रही हैं। इसीलिए कृष्णा सोबती के अनुसार "हर सचेत

नागरिक के लिए मानवीय चिंताओं की शैल्फ पर एक जरूरी टाइटिल।" इसी प्रकार वीरेंद्र यादव और विजयमोहन सिंह ने भी तारीफ के पुल बांधे हैं। अपने आलोचकीय विवेक और विश्वसनीयता को गिरवी रखकर। इसका कथानक बहुत उम्दा है, मगर कई जगह कई झोल भी हैं। दूसरे, उपन्यासकार ने यहां कई अंतर्विरोधों को शामिल किया है : दिक्कू (बाहरी) और आदिवासियों के बीच, आर्य एवं हो के बीच अंतरआदिवासी संघर्ष (सराक/भुइयां एवं हो के बीच), राष्ट्र और औपनिवेशिक शासन के बीच, अस्मिता और आर्थिक एवं पर्यावरणीय समस्या के बीच, पूंजीवादी विकास मॉडल और आदिवासी विकास मॉडल के बीच आदि, मगर कई आयाम अस्पष्ट हैं, जैसे आदिवासी विकास मॉडल क्या है? क्या इसमें डाइन प्रथा, दैवी छाया, भूतप्रेत आदि को शामिल किया जाएगा? क्या हो सभ्यता और सिंधु घाटी सभ्यता/हड़प्पा सभ्यता में साम्य सही हैं? क्या भुइयां जैसे मूलवासियों को परास्त करने वाले हो समुदाय को दिक्कूओं का विरोध करने का नैतिक अधिकार है? तीसरी, साहित्यिकता पर प्रकृतिवादी सामाजिकता एवं पत्रकारिता प्रायः हावी रही है। चौथी, भाषायी/पूफ की आशुद्धियां काफी हैं, जैसे किली और किलि (दो वर्तनी) (पृ. 39), बाबा की जगह बबा (पृ. 78) मसूडे की जगह मसूड़े (पृ. 93), पसोपेश की जगह पशोपेश (पृ. 213), रेस्तरां की जगह रेस्टोरेंट (पृ. 222), चारिबा की जगह चरिबा (पृ. 243), अनेक की जगह अनेकों (पृ. 294, 245), हियर की जगह हैयर (पृ. 285) आदि। फिर बार-बार अंग्रेजी शब्दों की भरमार खटकती है।

कुल मिलाकर यह उपन्यास अच्छा और पठनीय है, मगर श्रेष्ठ नहीं, मगर अच्छा, श्रेष्ठ का शत्रु होता है। फिर भी आवरण अच्छा है और छपाई भी अच्छी है, मगर 402 पृष्ठों के इस उपन्यास की कीमत 495 रुपये अधिक है, क्योंकि प्रकाशक ने सजिल्द के नाम पर (कपड़े की जिल्द की बजाय) मोटा कागजी गत्ता देकर पाठकों/क्रेताओं को बरगलाया है।

मरंग गोडा नीलकंठ हुआ/महुआ माजी/राजकमल प्रकाशन, 1, बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली/मूल्य : ₹ 495

डी-71, निवेदिता कुंज, आर.के. पुरम, सेक्टर-10, नई दिल्ली-110022, फोन : 011-26162591

# वैश्विक दृष्टि का अनूठा बयान

मीनू मंजरी

कु

छ पुस्तकों को पढ़ते समय हर पल यह दुविधा सताती रहती है कि शब्दों पर रुक, रस ले-लेकर पढ़ें या उसकी लयात्मकता में बंधे पढ़ते चले जाएं। राकेश रंजन का उपन्यास 'मल्लू मठफोड़वा' पाठक के समक्ष यही दुविधा उत्पन्न करता रहता है। इसका शब्द-प्रयोग इतना नूतन है कि कहीं-कहीं तो कोई शब्द अचंभित कर देता है। जैसे कि हरदासपुर गांव के वर्णन में शब्दों के बीच व्यंजन वर्णों का तालमेल (ऐजोनेन्स) अनायास ही निराला के शब्दों के जोड़ों की याद दिला देता है—विपन्न-अवसन्न; अभयवन-भयानक, सन्नाटा-अटूट; निराला के हूहव्यूह आदि की तरह। यह दोहराव शब्दों के प्रभाव को और सघन कर देता है। लेखक का कवि होना न सिर्फ पुस्तक के संवेदन में झलकता है, बल्कि इसकी संरचना, डिक्शन सभी में।

'मल्लू मठफोड़वा' मौलिकचंद्र उर्फ मल्लू के चरित्र की कथा है, पर यह उपन्यास भिन्न इस रूप में है कि यह मल्लू के साथ घटने वाली घटनाओं का प्लॉट-अनुसार ब्यौरा न होकर उसके चरित्र के बनने की कहानी है। उसका चरित्र 'मठफोड़वा-मठों को तोड़ने वाले' के रूप में विकसित हुआ है। इसके पीछे जो भी कारक हैं, वे तीन खंडों में पाठक के सामने आते हैं—प्रवेश, परिवेश और प्रस्थान।

मल्लू मठों को तोड़ने वाला होगा, यानी कि पूर्व उपस्थित ग्रैंड नैरेटिव उसे स्वीकार्य नहीं हैं। यहां पर यह उपन्यास एक उत्तर-संरचनावादी या उत्तरआधुनिकतावादी दृष्टि लेकर आरंभ होता है, लेकिन हम जल्दी ही पाते हैं कि संकेतक और संकेतित के बीच

अंतर से उत्पन्न होने वाला जो केऑस है, वह मल्लू का ध्येय नहीं है। मल्लू कोई अराजक स्थिति पैदा करने वाला मठफोड़वा नहीं, बल्कि प्रेम और भरोसे के सीमेंट से चीजों को जोड़ने वाला है। मल्लू के चरित्र को आकार देने वाले बाबा उदारवादी हैं, व्यापक दृष्टि और बुद्धि रखने वाले। यह सब मल्लू को उनके साथ से प्राप्त होता है। साथ ही प्यार और भरोसे पर विश्वास। बाबा उसे बताते हैं कि 'पेड़ को कठफोड़वा चाहिए और देश को मठफोड़वा'। वे पेड़ों को नुकसान नहीं पहुंचाते, बल्कि सड़ी-गली लकड़ी को हटाकर, कीड़ों को खाकर पेड़ों को स्वस्थ बनाए रखते हैं। मल्लू के 'मठफोड़वा' होने के पीछे भी यही सृजनात्मक रुख है, विखंडनकारी नहीं। आदि से अंत तक यह उपन्यास यही सृजनप्रेमी (आर्गेनिस्टिक) स्वर अपनाए रखता है।



पाठकों को दृष्टि की दो परिधियां इस उपन्यास में प्राप्त होती हैं। एक तो वह दुनिया है, जो मल्लू की निर्माणकर्ता है और जिसे हम मल्लू के नजरिए से देखते हैं, क्योंकि वही नैरेटर हैं। दूसरा वह व्यापक वृत्त है, जिसमें मल्लू खुद है, आकार लेता हुआ और उसे पाठक एक चरित्र के रूप में देख पाते हैं, खुद अपने नजरिए से। यहां हम देख पाते हैं कि मल्लू कितना सहज चरित्र है। उसके होने में कुछ भी बनावटी नहीं है। अक्सर विचारवान चरित्र बनावटी लगने लगते हैं, लेकिन मल्लू और उसके बाबा, दोनों ही चरित्र पूरी तरह हाड़-मांस के हैं। ऐसा शायद इसलिए भी हुआ है कि पुस्तक बहुत हद तक लेखक की आत्मकथा से अपने डिटेलस लेती है। जो गहरा जुड़ाव पाठक को भी अपने बीच खींच लेता है, वह वास्तविक जीवन से आया है। जैसे कि छोटे मल्लू को गृहस्थी का बोझ कम करने के लिए नानीघर भेज दिया जाता है। फिर जब मां उसे लेने आती है तो उस दृश्य में बस डेढ़ ही वाक्य का संवाद है, "तेरे पैर जलते होंगे...। घर चलेंगे।" लेकिन वह कलेजा फाड़ देने वाली हूक अचानक पाठक की आंखों में भी आंसू ला देती है।

उपन्यास का पहला भाग तो चित्रात्मक वर्णन का उदाहरण बन सकता है। मल्लू और उसकी सखी फुल्ला के गांव के कोने-कोने, नदी, खेत, अमराई में विचरने के दृश्य मासूम, मोहक हैं और कोमल विनोद से भरे हुए हैं। स्थान-स्थान पर तो विवरण इतने चित्रात्मक हैं कि विजुअल कोरिलेटिव के तौर पर सत्यजित राय के अपू और दुर्गा के कांस-वन में भटकने, फल तोड़ने के दृश्य आंखों के आगे आ जाते हैं। इस भाग की

अनुभूति केवल पट्टय नहीं, दृश्य-श्रव्य दोनों हो जाती है।

वहीं दूसरा भाग, जिसमें मल्लू के परिवेश का वर्णन है, इतना हिलैरियस है कि अनायास ही 'कसप' की याद आ जाती है। हालांकि राकेश रंजन की भाषा भिन्न है, लेकिन भदेस से शरारती हास्य उत्पन्न करना मनोहर श्याम जोशी के समान है। इस भाग में कई-एक प्रसंग हैं। संवादों का आंचलिक रस और मॉकहेरोइक शैली इनमें अद्भुत हास्य का संचार करती है। जैसे—गज की रक्षा तो प्रभु ने की; द्रौपदी की लाज भी प्रभु ने बचाई; प्रह्लाद से अजामिल तक, पत्थर से पेड़ तक का उद्धार प्रभु ने किया; पर महेसर झा का उद्धार कौन करे, कैसे हो?" वहीं हिंदी शिक्षक माधो मिसिर वाले खंड में एकतरफा संवादों से जीवन दृश्य सामने आया है।

लेकिन इसी खंड में हम देखते हैं कि मल्लू के वर्णनों का दृष्टिकोण सिर्फ स्थानीय न होकर, वैश्विक है। मुहल्ले की हर एक घटना का एक वृहत्तर अर्थ है। पाँकेटमार महेसर झा द्वारा दुर्गा-पूजा का कलश सीने पर स्थापित करना कलुष के आधार पर धर्म का कलश है तो मुहल्ले से रामलीला का उठ जाना हमारी लोक संस्कृति का छीजते चले जाना। मुन्नर साह का अपनी घोड़ी को बीच राह मरते छोड़ देना स्वार्थ और लोभ की समाज में पराकाष्ठा है तो मुसलमानों का मुहल्ले में अकेले पड़ते चले जाना धर्म को न समझ पाने की व्यापक विडंबना। हाजीपुर का जठुआ मुहल्ला जैसे पूरा समाज, पूरा देश है। यही कारण है कि राकेश रंजन का हास्य चार्ली चैप्लिन की फिल्मों की तरह हास्य से आरंभ होकर एक अत्यंत करुण स्वर पर खत्म होता है—'कलेजे को हींड़ता ..सारंगी का बिलखता और छीजता करुण स्वर... ।'

अंतिम भाग में हम जानते हैं कि मल्लू की दृष्टि को यह विस्तार मिला कहां से है। बच्चे के जीवन पर दादी-बाबा का असर अक्सर उपन्यासों में देखने को नहीं मिलता। मल्लू मठफोड़वा में बाबा का यह अनूठा चरित्र है। उनका व्यक्तित्व क्रांतिकारी है,



पर लाउड नहीं। पोते के प्रति उनका सहज अनुराग बहुत स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुआ है। प्रकृति के प्रति मल्लू को संवेदनशील बनाने का एक दृश्य तो यादगार है, जिसमें वे दोनों मिलकर हर रंग की कई एक चीजों के नाम लेते हैं। वहीं दादी मल्लू की कल्पना को एक अलग आयाम देती हैं और उसमें किस्सागोई के संस्कार बीजारोपित करती हैं।

उपन्यास का तीसरा खंड 'प्रस्थान' भी प्रेम और विश्वास के बिंदु पर समाप्त होता है, अर्थात् उपन्यास प्रेम की महत्ता से आरंभ होता है और मल्लू के जीवन में प्रेम और भरोसे का महत्त्व दिखाते हुए, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में भरोसे के महत्त्व पर समाप्त होता है। इस प्रकार इसकी संरचना में एक पूर्णता है। न सिर्फ इसके अंतिम खंड का नाम 'प्रस्थान' है, बल्कि यह चलताऊ उपन्यास-लेखन से भी एक प्रस्थान है। इसमें कृत्रिमता की पॉलिश नहीं, बल्कि भाषा और भावों की गहनता है। वैसे ही जैसे महीन कलाकारी से काटे गए हीरों के गहने खूबसूरत तो होते हैं, पर वैसे गहने कई एक पाए जा सकते हैं, लेकिन अनगढ़ हीरों को कुंदन में जड़कर जो पोलकी के गहने बनाए जाते हैं, वे अपनी तरह के अकेले होते हैं, यह उपन्यास भी अपनी जगह अकेला है।

मल्लू मठफोड़वा / राकेश रंजन / प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 200

क्यू-57 (पहली मंजिल) हिलव्यू गार्डन, भेहन लोम डेवलपर, भिवाड़ी-301018 (राजस्थान), मो. 09309495211

## निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ 'हिंदीसमयडॉटकॉम' नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत 'हिंदीसमयडॉटकॉम' पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। 'हिंदीसमयडॉटकॉम' में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक रीडरडॉटकॉम (www.classicreader.com) और गुटेनबर्गडॉटऑर्ग (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।



# जंगलराज अभी कायम है

विजय शर्मा

म

दन मोहन का 'जहाँ एक जंगल था' उत्तर भारत के गांव का बाइस्कोप है, जिसमें आज के गांव का असली चेहरा दीखता है। उपन्यास में गांव की कुरूप

राजनीति, संस्कृति के छीजने, सामाजिकता के नष्ट होने, दयनीय आर्थिक स्थिति, राजनैतिक लाभ के लिए धर्म और जाति के उपयोग, दबंगों और नान्हों के भेदभाव; सबके विस्तार से दर्शन होते हैं। आज के भूमंडलीकृत-बाजारवाद से लैस समय में गांव में होने वाले परिवर्तन-प्रवृत्तियों, ट्रेजडियों का घूमता आईना है यह उपन्यास। पूरे उपन्यास में खेती के अलावा बहुत कुछ होता है। लेखक का प्रतिरूप है उपन्यास का नायक गोरखनंदन सहाय। जिंदगी भर शहर में रहे और अब बेटे के कहे पर गांव की करोड़ों की संपत्ति को बेचने गांव लौटे हैं। अजीब स्थिति है गोरखनंदन की, न तो गांव के क्रियाकलापों में खुलकर भाग लेना चाहते हैं, न ही उससे दूर रह पाते हैं। काफी ऊहापोह में हैं। न खुलकर किसी का समर्थन कर पाते हैं, न ही किसी से पूरी तौर पर सहानुभूति जता पाते हैं। उनके मन में किसी के लिए पूरी तरह से विश्वास नहीं है। उनका अनुभव भी उन्हें किसी पर विश्वास नहीं करने देता है। वे भटकते हैं, धंसते हैं, राह खोजने का इरादा रखते हैं, पर अंततः लगाम दूसरों के हाथ में थमाकर गांव से निकल लेते हैं।

शुरू से गोरखनंदन पलायनवादी और दुलमुल विचार के रहे हैं। उनकी मां, पैखी सब उन्हें भगौड़ा मानती हैं। स्त्री; चाहे वह मां हो या प्रेमिका, पुरुष को बहुत अच्छी तरह जानती-पहचानती है। भले ही वह खुलकर इस बात को न कहे। पैखी इसको खुलकर कहती है, अतः विशिष्ट हो जाती है। उसने एक ऐसे व्यक्ति को प्रेम किया है, जो उसे अपने अपराध के एवज में अपनी जमीन पर एक झोपड़ी बनाने की सुविधा देकर उपकृत करना चाहता है। जब पत्नी से पता चलता है कि पैखी उनकी जमीन से अपनी झोपड़ी हटा

रही है, तब गोरखनंदन भले ही राहत की सांस लेते हैं, लेकिन पाठक की निगाह में पैखी का मान बढ़ जाता है। चुप रहकर भी पैखी कई बार अपनी निष्ठा और साहस का परिचय देती है। स्त्रियों का बहनापा दिखाया गया है, साथ ही वे कितनी लाचार और आश्रित हैं, यह भी स्पष्ट है। पैखी अपवाद है।

आज की दुनिया में पिता-पुत्र जैसे प्राकृतिक संबंध भी अर्थाधारित हैं। गोरखनंदन गांव आए हैं, ताकि अपनी करोड़ों की जमीन बेचकर अपने बेटे विकास की महत्वाकांक्षा पूरी कर सकें। बेटा अमेरिका में रिसर्च साइंटिस्ट है, जिसका ख्वाब है कि वह बंबई में दिमाग के बुखार (इंसेफेलाइटिस) की दवा का प्लांट लगाएगा। उपन्यास ऐसे ही बच्चों को समर्पित है, जो इंसेफेलाइटिस से मर गए हैं। कंपनी अमेरिकी होगी, जिसमें उसका शेयर होगा। योजना तमाम अमेरिकी योजनाओं की भांति ही काफी आकर्षक है। कुल बीस करोड़ का इन्वेस्टमेंट है, जिसमें विकास दस करोड़ लगाना चाहता है। चार करोड़ का इंतजाम वह लोन द्वारा कर लेगा, मगर छः करोड़ उसे पिता से चाहिए। यह बहुत स्पष्ट है कि यदि न दिए

तो दोनों के संबंधों पर आंच आ सकती है। पांच साल में इस कंपनी से तीस करोड़ का रिटर्न होगा, जिसमें दस करोड़ का मुनाफा है अर्थात् विकास की आंख अपने पांच करोड़ के शुद्ध मुनाफे पर है। अपने हित पहले ही सुरक्षित कर लिए गए हैं। दवा का दाम सरकारी खरीद के कमीशन का मार्जिन रखकर तय किया जाएगा। वह सब्जबाग दिखाता है कि यदि ऐसा हो गया तो माता-पिता के बुढ़ापे में उनके पास, उनके संग वह रह पाएगा।

क्या गांव में जमीन बेचना इतना आसान कार्य है? पूरा मामला गोरखनंदन के लिए गले की हड्डी बन गया है। यदि किसी से जमीन बेचने की चर्चा करते हैं तो एक ओर पुरखों की जमीन बेचने की ग्लानि तो दूसरी ओर इसकी पूरी-पूरी संभावना है कि लोग उनकी मजबूरी का फायदा उठाकर जमीन के औने-पौने दाम लगाएं।

पति-पत्नी का संबंध बड़ा रुखड़ा है। एक बार भी किसी प्रकार के स्नेह के दर्शन नहीं होते हैं। गोरखनंदन पत्नी से कभी अपनी समस्याएं साझा नहीं करते हैं, उस पर सलाह-मशवरा तो दूर की बात है। पत्नी भी सदैव तीखा बोलती हैं। तीस साल के साहचर्य में कोई सौहार्द नहीं उपजा है। दांपत्य में मधुरता का न रहना गोरखनंदन की पारिवारिक असफलता का नमूना है। वे खूब पैसा कमाने और विरासत में खूब संपत्ति पाने के बावजूद किस क्षेत्र में सफल रहे हैं, बताना कठिन है।

शहर में रहकर भी गोरखनंदन की मानसिकता बहुत विकसित नहीं हुई है। वे अब भी गांव में किसी को देखते ही सबसे पहले जानना चाहते हैं कि यह व्यक्ति किस टोले का है अर्थात् इसकी जात क्या है। दूसरी बात, जो वो जानना चाहते हैं, क्या वह व्यक्ति उन्हें जानता-पहचानता है? क्या इसे उनके और उनके पूर्वजों के किए एहसान स्मरण हैं? "आप दोनों मुझे पहचान रहे हैं?" वे अनजान लोगों से भी पूछने का लोभ संवरण नहीं कर पाते हैं। हर व्यक्ति उन्हें समय चर जाने वाला लगता



है, जबकि सुबह से शाम तक वे खुद कुछ करते नजर नहीं आते हैं। मजूरी देकर काम कराते हैं, मगर खुद तिनका भी नहीं तोड़ते हैं। चमरौटी में जाने में उन्हें संकोच है, क्योंकि अब कोई उन्हें देखकर उठकर अदब से खड़ा नहीं होता है। यह उन्हें अपनी अवमानना लगता है।

उपन्यास प्रारंभ में वनटांकिया की बात भी करता है और दिखाता है कि शोषण, उत्पीड़न और मुसीबत के मारे ये लोग सरकार और दबंगों के अत्याचार से बचने के लिए संगठित हो रहे हैं। इन्हें संगठित कर रहा है गांव का ही एक पढ़ा-लिखा युवक राकेश मिसिर, जिसे सब लोग बाबा के नाम से जानते हैं। राकेश चूंकि नान्हों के साथ उठता-बैठता है, उच्च जाति वालों ने उसे खारिज कर दिया है। पहले उसके पिता भी उसकी बातों से सहमत नहीं थे, मगर बाद में जब वह गायब हो जाता है या गायब कर दिया जाता है तो वे उसके लिए आमरण अनशन करते दीखते हैं। गोरखनंदन को राकेश में अपने अपूर्ण स्वप्नों के पूरे होने की आशा नजर आती है, अतः वे उसे अपना वारिस बनाते हैं। उपन्यासकार मानता है कि जन्म लेने से ही कोई वारिस नहीं हो जाता है। कर्म और विचारों के मिलने से भी विरासत आगे बढ़ती है। गोरखनंदन जवानी में बहुत थोड़े समय के लिए मार्क्सवाद के संपर्क में आए थे, मगर शीघ्र ही उससे विमुख होकर जीवन की सुख-सुविधाओं में डूब गए। हालांकि उपन्यास इस बात को बहुत स्पष्ट नहीं करता है कि कब और कैसे गोरखनंदन राकेश मिसिर के मुतमइन हो गए। उपन्यास में दोनों की एकाध मुलाकात का ही जिक्र है। उसमें भी कुछ खुलकर बातें नहीं होती हैं। पता नहीं कब उनकी चेतना का विकास होता है, जिससे प्रभावित होकर अपनी करोड़ों की जायदाद वे राकेश और उसके संगठन के नाम लिख देते हैं। वे स्वयं इसे हृदय परिवर्तन न मानकर मानसिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं। शक होता है कहीं बेजा हथियार्य हुई जमीन वापस न ले पाने की लाचारी और उचित खरीददार न मिल पाने का परिणाम तो नहीं है यह दान?

जिस तरह उन्हें झूठे मामले में फंसाकर कई दिन जेल में रखा जाता है और फजीहत की जाती है, उसमें उनके जमीन बेच पाने की संभावना न के बराबर बनती है। उन्हें अपने चचेरे भाई विशंभर का भी भरोसा नहीं रह जाता है। विशंभर पत्रकार है, इसलिए गोरखनंदन उससे काफी अपेक्षा कर रहे थे।

पत्रकार बिरादरी की सच्चाई से भी यह उपन्यास पाठक को रू-ब-रू कराता है। आज जब जादुई यथार्थवादी उपन्यास लिखे जाने पर बल है, ऐसे में मदन मोहन ने यथार्थवादी उपन्यास रचा है। जो गांव की हालत है, वही देश की है। जंगलराज अब भी कायम है। चुनाव आते ही दांव-पेंच शुरू हो जाते हैं। विरोधी एक-दूसरे का कच्चा चिट्ठा तैयार करने में जुट जाते हैं। चुल्हाई प्रधान के कारनामों का ब्यौरा बन चुका है, मगर सारे उम्मीदवारों की आंख सौ-डेढ़ सौ चमरौटी के वोटों पर है। आज भी भारत में जाति एक मजबूत घटक है, जिसकी उपेक्षा करने की हिम्मत किसी में नहीं है, राजनीतिक दलों और उनके उम्मीदवारों में तो कतई नहीं। दूर कुर्सी बिकाऊ है। घूस देने से किसी को परहेज नहीं है। लोग खरीदते हैं, क्योंकि कुर्सियां कामधेनु हैं। दिखाने के लिए भले ही उच्च जाति के लोग दिखाएं कि वे निम्न जाति के लोगों के साथ खा-पी रहे हैं, पर वास्तविकता है कि उनके लिए अलग खाने-पीने की व्यवस्था होती है, जहां बाहर से कुशल रसोइयों को बुलाकर स्वादिष्ट भोजन बनवाया जाता है। सुमित्रा शहर में छुआछूत नहीं मानती है, मगर गांव में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखती है। हां, पैखी उनके निकट जा पाती है, जो थोड़ा अटपटा लगता है।

उपन्यास यह भी बताता है कि कैसे सरकार की लापरवाही और उपेक्षा के कारण मेधा होते हुए भी हमारे देश में शोध की संभावनाएं दम तोड़ देती हैं। फिर वही शोध खूब महंगा होकर वाया अमेरिका हमारे देश में पहुंचता है। सत्ता में बैठे लोग अपने लाभ के लिए सौदा करते हैं और सरकार विदेशी दबाव के समक्ष घुटने टेकती है। मानसिक औपनिवेशिक वृत्ति अब भी कायम है। बीमारी के कारकों का निदान और उन्मूलन न करके उसे बनाए रखा जाता है।

कई विसंगतियां भी हैं, जो उपन्यास में झोल पैदा करती हैं। जैसे मां, जो उनके और पैखी के संबंध को जानती थीं, बाद में कभी पैखी की कोई बात नहीं करती हैं। इतनी दबंग स्त्री कभी जान नहीं पाती है कि उसके घर बरसों-बरस बिजली क्यों नहीं लगी। उपन्यास की भाषा, खासकर वाक्यों की बनावट का अटपटापन भी खटकता है। कई पुल्लिंग शब्दों का स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग शब्दों का पुल्लिंग में प्रयोग उत्तरप्रदेश के लोगों की खासियत है। वैसे भी हिंदी इतने बड़े क्षेत्र में बोली जाती है कि बनावट की विभिन्नता भी

इसकी क्षेत्रीय विशेषता के नाम पर स्वीकृत है, मगर यह इस उपन्यास में एक पढ़े-लिखे के द्वारा आया है, इसलिए सोचना पड़ेगा। एक जगह आया है कि गोरखनंदन गांव में कई महीने रहते हैं और अंत में जब वे गांव से निकल रहे हैं, तब लिखा है, “अड़तीस दिन में मिल गई आजादी।”

गांव में परिवर्तन हो रहा है, जिसका नमूना है कायस्थों की जमीन पर हरिजन और अहीरों का अवैध कब्जा। जंगल को हथियार कर, खाली करा कर, साफ करके बहुमंजिली इमारतें बनाने की योजना। जंगल उजाड़कर वनवासियों को बसाने का वायदा, जो एक दुःस्वप्न मात्र है। राकेश अवश्य नौजवानों को मार्क्सवाद की शिक्षा देता नजर आता है। गोबर-गैस का प्रयोग करता है। बगल के गांव में एक स्कूल है तो वह एक खास राजनैतिक दल द्वारा संचालित है। जाहिर-सी बात है, वहां उसी के अनुकूल शिक्षा दी जाती है। गांव खतरनाक प्रवृत्तियों का गढ़ बना हुआ है। जहां खलिहरों के भी अपने-अपने गुट हैं। अपराधी अधिकारियों की आवभगत का पुख्ता इंतजाम करते हैं। ऐसी स्थिति में न्याय का क्या हथ्र होगा, बताने की आवश्यकता नहीं है। यह देश की त्रासदी है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी पुलिस सत्ताधारियों के पक्ष में खड़ी है और कमजोर आज भी अपना सर्वनाश होता देखता बेबस-लाचार खड़ा है। त्रासदी यह है कि जो भी जुल्म का प्रतिरोध करता नजर आए, वह मुसीबत करार कर दिया जाता है। जो मुसीबत लगे, उसे माओवादी कहकर आसानी से सत्ताधारियों द्वारा समाप्त किया जा सकता है। विकास के नाम पर मनरेगा जैसी योजनाओं की कलाई खोलता, परिवर्तन के नाम पर सत्ता-समीकरण का परिवर्तन दिखाता, पुलिस और दबंगों की मिलीभगत दिखाता, जातिगत राजनीति में उलझे समाज को नंगा करता मदन मोहन का यह पहला उपन्यास आज के भारत की वास्तविक तस्वीर दिखाता है।

जहां एक जंगल था/मदन मोहन/अंतिका प्रकाशन, सी-56, यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद/मूल्य : ` 495

151, न्यू बाराद्वारी जमशेदपुर-831001, फोन : 0657-2436251, 0657-2906153 मो. : 09430381718, 09955054271, ईमेल : vijshain@yahoo.com, vijshain@gmail.com

# स्त्री चरित्रों के अंतर्विरोधों को तलाशती एक आत्मकथा

प्रियंका शाह

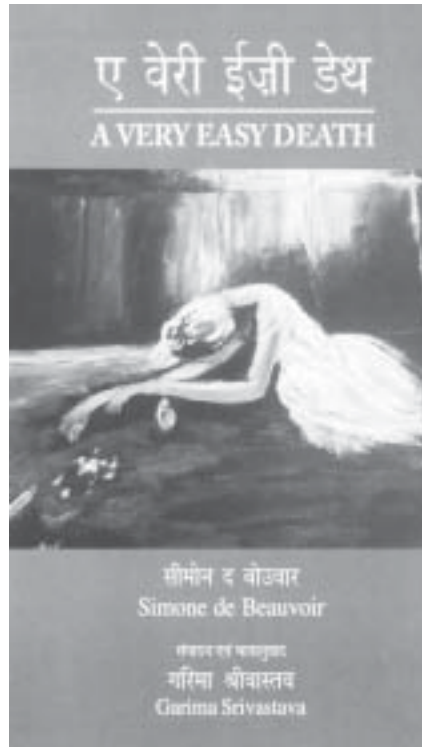
सी

मोन द बोउवार के आत्म-कथात्मक उपन्यास 'ए वेरी ईजी डेथ' की आधारस्तंभ पात्र श्रीमनि की मां मामन है।

मामन की मृत्यु के साल भर बाद इस रचना का प्रकाशन होता है। मामन के जीवन के अंतिम छह सप्ताह का कालखंड इस रचना की आधारशिला है, जिसमें कैंसर से पीड़ित मामन धीरे-धीरे मृत्यु की ओर एक-एक कदम बढ़ती जाती हैं। ये वही मामन हैं, जिन्हें ताउम्र कैंसर से घृणा और डर-सा लगा रहा और अंत में यही कैंसर उनके जीवन को ग्रस लेता है और मृत्युशैया पर पड़ी मामन अंत तक यह नहीं मान पाती कि उन्हें कैंसर है। मामन की दो बेटियां सीमोन और पर्पट कैंसर वाली बात अपनी मां मामन से छिपा लेती हैं।

हालांकि यह कहानी मृत्युशैया पर पड़ी मामन की है, जो 78 वर्षीया वृद्धा है, जो यह चाहती है कि अपनी बीमारी से जल्दी ठीक होकर नए सिरे से अपने जीवन की शुरुआत करेगी, परंतु इस रचना में मृत्यु से संघर्ष करती हुई मामन ही नहीं दिखती, बल्कि जीवन से संघर्ष करते हुए मामन के चित्र भी सीमोन ने इस रचना में उकेरे हैं। एक बेटी के रूप में मामन पिता के प्यार से वंचित रह जाती है। मामन को वह प्यार नहीं मिलता, जो बहन लिलि को मिलता है। अपनी मां मामन के संदर्भ में सीमोन का ये कथन उल्लेखनीय है, "मुझे नहीं लगता कि मामन का बचपन खुशनुमा रहा होगा। वह बचपन की चर्चा बहुत कम करती। उसकी यादें मधुर न थीं। उसके पिता हमारी लिलि मौसी को मामन से ज्यादा प्यार करते, वह बचपन में गुलाबी, खूबसूरत गुड़िया

लगती। उसके सामने मामन अति साधारण थी। लिलि मौसी उससे पांच साल छोटी थी, फिर भी मामन हमेशा उससे ईर्ष्या करती।" (पृ. 20) एक बेटी के रूप में मामन पिता के प्यार से वंचित रह जाती है, परंतु यह किस्सा यहीं खत्म नहीं होता। विवाह के बाद पति का प्यार भी मामन को नसीब नहीं होता, "पिता के अनेक प्रेम-संबंध थे, फिर भी मामन पिता से बहुत प्रेम करती।" (पृ. 21) पति के प्रेम-संबंधों को जानने के बाद भी पति से प्रेम करने वाली मामन पति के मरने के बाद दो बेटियों को लेकर अपने जीवन का नया अध्याय शुरू करती हैं, परंतु कैंसर से आक्रांत होने के बाद नए जीवन की शुरुआत का सपना मामन देखती तो हैं, पर उसे पूरा नहीं कर पातीं।



जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों ने मामन के चरित्र को अंतर्विरोधों में बदल दिया था। अपनी मां मामन से प्यार करने वाली सीमोन और पर्पट मां के अंतर्विरोधी चरित्र से परेशान हो उठती थीं, "हम दोनों बहनों के मैत्री संबंध से मामन को ईर्ष्या थी, क्योंकि वह पर्पट को पूरी तरह अपने आधिपत्य में रखना चाहती थी। (पृ. 260) मामन के इसी अंतर्विरोधी चरित्र ने सीमोन से उनको दूर भी किया था, "मामन का प्यार हमारे लिए गहन और विशिष्ट था, इस प्यार के कारण हमें जितनी भी पीड़ा मिली, वह मामन के व्यक्तित्व में अंतर्विरोधों के कारण थी। (पृ. 25) वस्तुतः इस रचना में सीमोन ने मामन के जीवन के उतार-चढ़ाव, जीवन में प्यार की अनुपस्थिति, वैधव्य, जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद नए रूप में जीवन जीने की उत्कट लालसा को दर्शाने के साथ-साथ एक स्त्री के चरित्रों में आए अंतर्विरोधों का भी सुंदर चित्रण किया है। मामन के जीवन में आए विभिन्न आयामों ने मामन के चरित्र को भी एक हद तक प्रभावित किया है। फलतः मामन का चरित्र स्त्री-विमर्श को एक नए रूप में पेश करता है।

ए वेरी ईजी डेथ/संपादन एवं अनुवाद : गरिमा श्रीवास्तव/स्वराज प्रकाशन, 4648/1, 21, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002/मूल्य : रु. 150

742, नूतन ग्राम, कोलकाता-712250, मो. 09433835636

# आदिवासी समाज की कलंक कथा

राजा खुगशाल

ल

क्ष्मण गायकवाड़ मराठी के उन लेखकों में हैं, जिन्होंने महाराष्ट्र के आदिवासी जन-जीवन पर उपन्यास ही नहीं लिखे, बल्कि उनके सामाजिक उत्थान के लिए संघर्ष भी करते रहे। मराठी में 'उचल्या' और 'पत्थर कटवा' जैसे उपन्यासों के लेखक लक्ष्मण गायकवाड़ पिछले 25-30 वर्षों से कई आदिवासी सामाजिक संगठनों से जुड़े हुए हैं। शोषित-पीड़ित समुदायों में सामाजिक परिवर्तन लाने और घुमंतु जमातों के लोगों को न्याय दिलाने के लिए वे 1978 से कार्यरत हैं। उनका नया उपन्यास 'वकील पारधी' (वाकिल्या पारधी) आदिवासी पारधियों की समस्याओं को सामने लाने का प्रयास है। आदिवासियों के जीवन पर प्रामाणिक उपन्यास तब तक नहीं लिखा जा सकता, जब तक लेखक को आदिवासियों के जीवन की गहरी जानकारी न हो। हिंदी में ऐसी जानकारी बहुत कम लेखकों को है। यही कारण है कि हिंदी में आदिवासी जीवन पर लिखे गए उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। मराठी लेखक लक्ष्मण गायकवाड़ के उपन्यास 'वाकिल्या पारधी' का हिंदी अनुवाद 'वकील पारधी' बहुत हद तक इस कमी को पूरा करता है। इस उपन्यास का मराठी से हिंदी अनुवाद प्रभा शेटे ने किया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पैंसठ वर्षों के बाद भी पारधी समाज की समस्याएं कम नहीं हुई हैं। पशुतुल्य जीवन जीने वाले पारधी समाज की वेदना और कष्ट, उन पर लगा हुआ गुनहगारी का कलंक, पुलिस और प्रशासन की प्रताड़ना, इस उपन्यास की कथावस्तु है। ब्रिटिश शासन काल में पारधी समाज को अपराधी श्रेणी में शामिल किया

गया था। पेंढारी, ठग, टक्कारी, गोंड, भील, रामोशी आदि जन-जातियों के साथ उन्हें भी जन्म से अपराधी माना जाता था। आजादी मिलने के बाद वे अपराध के कलंक से मुक्त कर दिए गए, लेकिन पुलिस और प्रशासन की दृष्टि में उन्हें ससम्मान जीने का हक आज तक हासिल नहीं हुआ। रोजी-रोटी की तलाश में खानाबदोश जीवन जीने वाले पारधियों को पुलिस झूठे मामलों में फंसाकर कैद कर लेती है। उनसे झूठी गवाही दिलवाती है। उनकी औरतों के साथ बदसलूकी की जाती है। उनकी बस्तियां जलाई जाती हैं। सरकारी उपेक्षा और पुलिस द्वारा उत्पीड़न की त्रासदी को यह उपन्यास बखूबी व्यक्त करता है।

पारधी समाज आदिवासी जाति में गिना जाता है, किंतु उन्हें राज पारधी, गाव पारधी, हिरन पारधी नाम देकर आदिवासियों को मिलने वाली सुविधाओं से वंचित रखा जाता



है। लेखक का कहना है कि पुलिस और समाज के प्रभावशाली व्यक्तियों के विरोध के बावजूद पश्चिमी महाराष्ट्र के पुणे, सतारा, मराठवाड़ा, इंदोपुर, बारामती आदि जगहों पर आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार की घटनाओं को सामने लाकर उनके संगठन ने लाखों रुपयों का मुआवजा पीड़ित पारधियों को दिलवाया है। यही नहीं ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता प्रसिद्ध बांग्ला लेखिका महाश्वेता देवी के साथ उन्होंने महाराष्ट्र और देश की अन्य गुनहगार जमातों पर हो रहे अमानवीय अत्याचारों की ओर राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग से लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ तक का ध्यान आकर्षित करवाया है।

पिछले कुछ वर्षों से आदिवासियों की समस्याओं पर कई राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय मंचों पर चर्चा हो रही है। कुछ जगहों पर ये चर्चाएं सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों का रूप ले चुकी हैं। इससे लाभ यह हुआ कि आदिवासी समाज के प्रति शेष समाज के दृष्टिकोण में बदलाव आया है। लोगों के मन में आदिवासी समाज के प्रति सहानुभूति जागी है। देश में पारधी समाज के लोगों की संख्या लगभग एक करोड़ है। शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार के बावजूद पारधियों में एक प्रतिशत लोग ही शिक्षित हैं। इस उपन्यास में हमें पारधी समाज के सांस्कृतिक और परिवेशगत जीवन मूल्यों, उनके दैनिक जीवन की अन्य समस्याओं तथा सामाजिक संरचना का भी प्रामाणिक परिचय मिलता है। उनके गीतों और कहानियों से पता चलता है कि वे लोग कौन थे। कहां से आए थे। उनका इतिहास क्या है।

पारधी समाज की मान्यता है कि कभी किसी काल में इस भूतल पर उनका ही

राज था। वे लोग रक्षणशील थे, किंतु राक्षसगुणी और देवगुणी लोगों में अकसर लड़ाइयां होती थीं। राक्षसगुणी लोग जंगलों में रहते थे। देवगुणी लोगों ने राक्षसगुणी लोगों से उनका राज्य छीन लिया था। तब से राक्षसगुणी लोग जंगलों में भटकने लगे। वहीं रहकर कंदमूल फल खाने लगे। उनके पूर्वजों ने शपथ ली थी कि वे तब तक पका हुआ अन्न ग्रहण नहीं करेंगे, जब तक देवगुणी लोगों से बदला नहीं ले लेंगे। “देवगुणी लोगों ने छल-कपट से हमारा सोने जैसा राज्य छीनकर हमें बेघर किया। हमें खानाबदोशों की तरह जीने पर मजबूर किया। इसलिए हम लोग किसी एक जगह पंद्रह दिनों से अधिक नहीं रहते हैं। जब तक हमारा राज्य हमें वापस नहीं मिल जाता, तब तक हमें हाथों से तीर-कमान नहीं छोड़ना है। पैरों में चप्पल नहीं पहननी हैं। गांव की रोशनी जहां नजर आए, उस जगह से बारह कोस दूर रहना है। घरों में कभी दीया नहीं जलाना है।”

पारधी अपने आपको महाराणा प्रताप के वंशज मानते हैं, जो अपनी वन गायों पर बैठकर जंगलों में घूमते थे। उनके पास कमर में बंधी लंगोट, तीर-कमान और भोजन बनाने के उपयोग में आने वाली हड्डियों के सिवाय और कोई संपत्ति नहीं होती थी। पारधी बस्ती वालों को अगर कोई गैर व्यक्ति दिखाई दे, जो पारधी न हो, वे उसे ‘खतरे की घंटी’ समझते थे, क्योंकि उस व्यक्ति में देवगुणी (आर्यवंशी) होने की संभावना होती थी। देवगुणी लोग उनके शत्रु थे और शत्रु को मृत्युदंड देना ही उनका धर्म था। बिरडीस, तीरमान्या, बाघआवण्या और हरण्या जैसे आदिवासी युवक अपने परिवारों का संरक्षण करते हुए इसी परंपरा का पालन करते थे। जंगलों में शिकार करने गए अंग्रेज अकसर इन आदिवासियों के शिकार बन जाते थे। अंग्रेज इन्हें ‘जंगली इंडियन’ कहते थे। अंग्रेजों ने इनका उल्लेख एक हिंसक जन-जाति के रूप में किया है। “ये पारधी लोग लंबे-चौड़े, तगड़े होते हैं। इनकी आंखें कभी थोड़ी नीली-सी, किसी की भूरी या किसी की पीली-सी लाल होती हैं। इनकी नजर बहुत तेज और तीखी होती है। मानो वे किसी शिकारी बाज की आंखें हों। ये लोग रात

के घने अंधेरों में भी देख सकते हैं। इन लोगों के घर, जिन्हें वे ‘पाल’ कहते हैं— अक्सर किसी भी गांव से नब्बे-पचानवे कोस की दूरी पर होते हैं। भागते समय वे बड़ी तेजी से हिरनों जैसी छलांगें मारते हुए भागते हैं।”

स्वतंत्रता संग्राम में आदिवासियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसलिए आदिवासियों पर अंकुश लगाने का काम अंग्रेज प्रमुख को अपने हाथों में लेना पड़ा। इंग्लैंड की महारानी की अनुमति से ऐसा कानून लाया गया, जिसमें हिंदुस्तान के आदिवासी जंगली लोगों को काबू में रखने के लिए उन्हें जन्म से ही चोर, डाकू, गुनहगार घोषित कर दिया गया। “इस कानून से सारे आदिवासी ‘बाय बर्थ क्रिमिनल’ माने जाने लगे। इस कानून के बनते ही आदिवासियों को पकड़कर मृत्यु दंड देना, उन्हें गुलाम बनकर विकास कार्यों में लगाना या फिर उन्हें कारागृहों में उम्र भर के लिए डाल देना बहुत आसान हो गया था। इस कानून का पूरा फायदा अंग्रेज हुकूमत ने उठाया था।”

अंग्रेजों के इस त्रासदायक कानून के चलते पारधी समाज को अपनी बहुत-सी प्रथाएं बदलनी पड़ीं। कई पीढ़ियों से हिरन और बाघ के चमड़ों से बने लंगोट पहनने वाले पारधी अब चरवाहों और गड़रियों जैसे सूती कपड़े पहनने लगे। अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम में पारधी समाज ने स्वतंत्रता सेनानियों का साथ दिया। “अंग्रेजों के विरोध में उठी आवाज उन्हें अच्छी लगी थी। उनके अंदर भरा गुस्सा भी मानो बाहर आना चाहता था।” स्वतंत्रता सेनानियों के साथ उन्होंने रेलगाड़ियों से हथियार लूटे। रेल के डिब्बों से वे बंदूकें और गोला-बारूद से भरी पेटियां बाहर फेंक देते थे। खजाने लूटते थे। आजादी के आंदोलन में देश की अन्य जन-जातियों के साथ उन्होंने भी ‘अंग्रेजो, भारत छोड़ो’ का नारा बुलंद किया था।

अंग्रेज चले गए। देश आजाद हुआ, लेकिन अंग्रेजों के बनाए हुए कायदे-कानून अब भी थे। अंग्रेजों के राज में कई पारधियों को उनके बीवी-बच्चों सहित पकड़ लिया गया था। जन्म से गुनहगार होने का ठप्पा लगाकर उन्हें बंदीगृहों में बंद कर दिया गया। अंग्रेजों का राज खत्म होने के बाद भी वे

वर्षों तक उन्हीं कारागृहों में सड़ते रहे। शोलापुर स्थित कैदखाने से पारधी बंदियों की मुक्ति के लिए जब कछ पारधियों ने आवाज उठाई तो स्वतंत्रता सेनानी और नेता बाजीराव पाटिल ने कहा, “तुम्हारे लोगों को जन्म से ही गुनहगार करार देकर, तुम्हें बंदी बनाने का अधिकार वर्तमान सरकार के पास भी है। जब तक नई सरकार वह कानून बदल नहीं देती, तब तक तुम लोगों को पहले की तरह ही चोरी-छिपे रहना होगा।”

एक अन्य स्वतंत्रता सेनानी नाना पाटिल के साथ एक आदिवासी युवक कालवीर भी अंग्रेजों के हाथों पकड़ा गया था। आजादी मिलने पर नाना पाटिल को ससम्मान जेल से रिहा किया गया, किंतु कालवीर जेल में ही बंद रहा। वह पारधी था और उसे ‘गुनहगारी’ कानून के अंतर्गत चोर-डाकू कहकर बंदी बनाया गया था। जेल से छूटने के कुछ दिनों बाद नाना पाटिल नई सरकार में मंत्री बना और कालवीर गुनहगारी की सजा भुगतता रहा। जेल में बंद आदिवासियों को आजादी मिलने के पांच वर्ष सोलह दिनों के बाद मुक्त किया गया। जेल से रिहा किए गए भीमराव जाधव ने ‘भूतपूर्व गुनहगार विमुक्त संगठन’ की स्थापना की और आदिवासी हितों के लिए आवाज उठाई। अंग्रेजों के समय शिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी जो सुविधाएं आदिवासियों को मिलती थीं, नई सरकार ने वे भी बंद कर दी थीं। आदिवासियों के लिए सामाजिक न्याय की गुहार लगाते हुए भीमराव जाधव ने कहा, “जैसे महात्मा गांधी ने अंग्रेजी सरकार के विरोध में सत्याग्रह किया था, वैसा सत्याग्रह अब हमें नई सरकार के विरोध में करना पड़ेगा।”

पहाड़ों और जंगलों से बाहर आकर आदिवासी गांवों के आसपास बसे। खेती-बाड़ी करने लगे, किंतु गांव-देहात की जमीनों पर जब शुगर मिलें और कपड़ा मिलें लगने लगीं तो उन्हें वहां से भी हटा दिया गया। दर-ब-दर भटकते आदिवासियों को पेट भरने के लिए फिर चोरी-डकैतियां करनी पड़ीं। अब चोरी-डकैतियों में उन्हें स्थानीय राजनीतिज्ञों और पुलिस का संरक्षण मिलने लगा।

‘वकील पारधी’ एक घटना प्रधान उपन्यास है। इस उपन्यास का ताना-बाना

देखी और सुनी गई सत्य घटनाओं से बुना गया है। आदिवासी समाज में घटित होने वाली छोटी-बड़ी घटनाओं के बीच इसमें एक आदिवासी बच्चे का सपना भी है। पढ़-लिखकर वकील बनने का सपना। कोर्ट-कचहरी में वकीलों को देखकर उसके मां-बाप ने उसका नाम वकील (वाकिल्या) रख दिया गया। छोटा वाकिल्या अपनी मां की दयनीय स्थिति को देखता रहता था। समझने की कोशिश करता था। पारधियों के नसीब में आई वेदनाएं और दुखों को वह सात वर्ष की उम्र से देखता और झेलता आया था। पुलिस थाना, कोर्ट-कचहरी, जेल का प्रवास वह कर ही रहा था। वह मन-ही-मन कहता, 'मेरे मां-बाप का सपना था कि मैं वकील बनूं। मैं वकील बनना चाहता हूं।' ताकि झूठे मुकदमों में फंसाए गए अपने मां-बाप, अपने लोगों को वह न्याय दिला सके। पारधी समाज के लोगों को कोर्ट-कचहरियों में न्याय दिलाने के लिए वकील नहीं मिलते। वकील उनके मुकदमों की पैरवी नहीं करना चाहते। वे बाजीराव देशमुख और नाना पाटिल जैसे नेताओं के शोषण के शिकार हैं। घाडगे पाटिल जैसे निरंकुश पुलिस अफसर उन पर अत्याचार करते हैं।

चुनावी राजनीति में आदिवासियों का इस्तेमाल एक वोट-बैंक के रूप में होता रहा है। उनकी समस्याओं पर आज तक गंभीरता से विचार नहीं किया गया। असंतुलित विकास और शहरीकरण की आंधी में आदिवासियों की समस्याएं सुलझने के बजाय और उलझती गईं। आदिवासियों के जीवन से संबंधित ऐसे कुछ तथ्यों की जानकारी हमें इस उपन्यास से मिलती है। उपन्यास में आदिवासियों पर अत्याचार तथा उनके हाहाकार का मर्मस्पर्शी चित्रण है। मूल मराठी से अनूदित इस उपन्यास की भाषा सहज और संप्रेषणीय है।

वकील पारधी/लक्ष्मण गायकवाड़/मूल मराठी से अनुवाद : प्रभा शेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., 7/31, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 350

एन-390, जलवायु विहार, सेक्टर-25, नोएडा-201301 (उ.प्र.) मो. 9910148737

कहानी

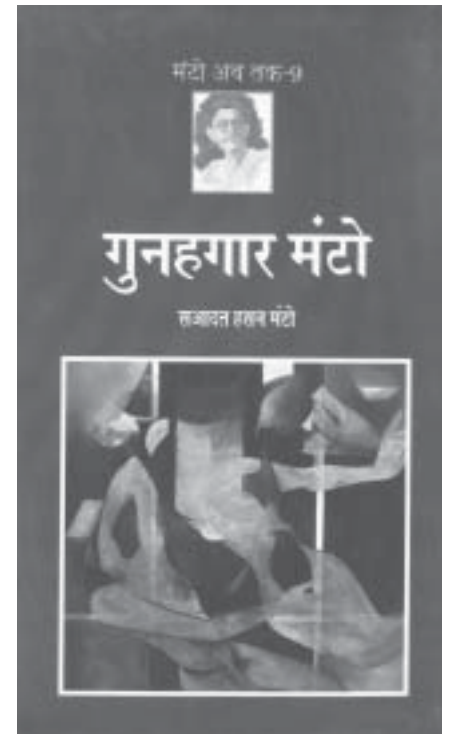
# रचना के पक्ष में तनकर खड़ा एक अदीब—मंटो!

ज्ञानप्रकाश विवेक

स

आदत हसन मंटो की कहानियों को पढ़ते हुए एक मिसरा ज़ेहन में कौंधता है— नाकर्दा गुनाहों की सज़ा मेरे लिए है। (जो गुनाह मैंने किए नहीं, उनकी सज़ा भी मुझे दी गई) मंटो के साथ यही हुआ। उनकी तहरीरें और मज़ामीन (लेख) पढ़कर देखें तो लगता है कि एक एहसास (संवेदनशील) अदीब मंटो को कितना प्रताड़ित किया गया। जिन अफसानों की विषयगत नौइयत (नयापन) और नायाब अंदाज़े-बयां पर ख़ैरमक़दम होना चाहिए था, उन्हीं अफसानों को समाज के कुछ शुद्धतावादियों ने और व्यवस्था ने 'फूहश' (अश्लील) मानकर मुक़दमे चलाए। क्या यह हैरत में डालने वाला कारक नहीं कि एक मुसन्नफ़ (लेखक) औरत-मर्द के पेचीदा रिश्तों पर मनोवैज्ञानिक ढंग से और बिलकुल नए ज़ाविए से अफसाने लिखने का हौसला जुटाता है, ऐन उस वक़्त उस पर एक के बाद एक मुक़दमा चल पड़ता है। विडंबना से ज़्यादा यह अफसोस की बात है कि बयालीस बरस आठ महीने सात दिन की ज़िंदगी में, मंटो का लेखकीय सफ़र इक्कीस साल का रहा और इन इक्कीस सालों में दस साल तक मंटो मुक़दमे, सम्मन और पेशियां भुगतते रहे। इस दौरान मंटो कितनी गहरी कश्मकश और मानसिक तनाव से गुज़रे, उसका हल्का-सा अहसास उनके तआतुल (उपसंहार) में व्यक्त इस तहरीर से होता है, "दिमाग़ की कुछ अजीब-सी कैफ़ियत हो गई थी। समझ में नहीं आता था कि क्या करूं? सच पूछिए तो तबीयत इस क़दर खट्टी हो गई थी कि जी चाहता था कि कोई चीज़ एलाट हो जाए तो आराम से किसी कोने

में बैठकर चंद बरस, क़लम और दवात से दूर रहूं।" उन दिनों मंटो की मानसिक अवस्था कैसी रही होगी और वो समाज तथा सिस्टम से कितने रंजीदा रहे होंगे, इस वक्तव्य से पता चलता है। अहमद नदीम कासमी (प्रसिद्ध शायर और 'नक़ूश रिसाले' के संपादक) को मंटो ने कई सारी चिट्ठियां लिखीं। यह ख़तो-किताब एक तरह से उस दौर के अदब के साथ-साथ मंटो के मन की व्याकुलता को भी बयान करती है। एक ख़त में वो लिखते हैं, "मेरी ज़िंदगी एक दीवार है, जिसका पलस्तर मैं नाखुनों से खुरचता रहता हूं।" मंटो की ये सतरें, मंटो की कैफ़ियत को बयान करती हैं। लोगों की निस्संगता और बेहिंसी, आधुनिकताबोध से पूर्ण एक अदीब को भीतर से कितना



तोड़ती रही, अनुमान लगाया जा सकता है।

लेकिन मंटो के पक्ष में, प्रबल भावना के साथ यह बात कही जा सकती है कि शारीरिक रूप से बेशक वो कमज़ोर पड़ते चले गए, लेकिन अपने भीतर के रचनाकार को उन्होंने न झुकने दिया, न समझौतावादी बनाया। यही अहम बात सआदत हसन मंटो को 'मंटो' बनाती है और मंटो के इसी मिज़ाज से ही तो एक मुहावरा छनकर आया है, 'मंटो जिंदा है।' वो यूँ ही तो जिंदा नहीं। वो इसलिए जिंदा है कि उसने अपने मुसन्निफ़ यानी लेखक को कहीं भी छोटा नहीं होने दिया, बल्कि उन्हें गर्व होता है कि वो मुसन्निफ़ हैं। व्यवस्था उन पर मुक़दमें चलाती है। जुमाने, सज़ा, ज़मानत, अदालत और अपमान—मंटो सब झेलते हैं, लेकिन अपने अफ़सानों के पक्ष में वो किसी चट्टान की तरह अडिग खड़े नज़र आते हैं।

मंटो के अफ़सानों के अतिरिक्त उनके मज़ामीन और तहरीरों की शैली और उर्दू ज़बान की आधुनिकता, रंगत, रवानी और तीक्ष्णता इस बात का अहसास कराती हैं कि मंटो के भीतर खड़ा आदमक़द मुसन्निफ़, अपनी तार्किकता और अपने नज़रिए को कभी शिकस्ता नहीं होने देगा।

मंटो, कोर्ट में जो तहरीरी बयान दाख़िल करते हैं, वो बेहद तार्किक, स्पष्ट हैं और अपने अफ़सानों के पक्ष में दृढ़ता का सबूत हैं। मंटो का बयान है, "यह अफ़साना (ठंडा गोश्त) एक अदीब की तस्नीफ़ (रचना) है, जो अदबेजदीद में काफ़ी अहमियत रखता है।" 'धुआं' कहानी के सिलसिले में भी मंटो ने यह बयान दिया था, जो रूढ़िवादी, परंपरावादी और ठस्स लोगों के सामने किसी चुनौती की तरह था, "उर्दू के जदीद अदब से जो लोग ज़रा-सा भी वास्ता रखते हैं, उनको मेरे अदबी मक़ाम का इल्म है।...मेरे अफ़साने तंदरुस्त और सेहतमंद लोगों के लिए हैं, नार्मल इन्सानों के लिए, जो औरत के सीने को औरत का सीना ही समझते हैं, जो औरत-मर्द के रिश्ते को इस्तेजाब (आश्चर्य) की नज़र से नहीं देखते।"

दरअसल, मंटो के अफ़साने और अफ़सानों के विषय और उनकी भाषा हैरत में डाल देती है। तो मंटो के तर्क भी कम चकित नहीं करते। एक के बाद एक पांच

अफ़सानों पर मुक़दमे! और मंटो हैं कि ज़रा भी विचलित नहीं होते। आर्थिक दृष्टि से और सेहत संबंधी हालत से वो दरक चुके होते हैं, लेकिन अपनी वैचारिक दृढ़ता को ज़रा भी अस्थिर नहीं होने देते।

बहुत महत्त्वपूर्ण विषय यह भी है कि मंटो से पहले, यहां तक कि मंटो के दौर में भी कृश्नचंदर और राजेंद्र सिंह बेदी जो लिख रहे थे, वो रचनात्मक दृष्टि से बेशक सशक्त था, लेकिन हलचल पैदा की तो मंटो ने! बू, धुआं, खोल दो, ठंडा गोश्त जैसी कहानियां लिखकर उन्होंने नई बहस पैदा की। वो बहस कभी नहीं मरी। वो बहस आज भी जारी है। वो बहस हमेशा-हमेशा जिंदा रहेगी, क्योंकि मंटो जिंदा रहेंगे।

मंटो जिंसियात (यौन) जैसे विषय पर बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से लिखते हैं—बू, ठंडा गोश्त और काली शलवार, धुआं कहानियां, केवल देह की या यौनिकता की कहानियां नहीं हैं, मानवीय भावनाओं के आवेग की ऐसी कहानियां हैं, जिनको मंटो ने किसी 'साइकियाट्रिस्ट' की भांति 'ट्रीट' किया है। वो अपने भीतर के अफ़सानानिगार को जानते-परखते हैं, जिसके पास मनोवैज्ञानिक ताक़त है, जो मनुष्य की 'साइकी' जानता है। वो कहते भी हैं, "मैं तहीरो तस्नीफ़ के जुमला आदाब से वाकिफ़ हूँ। मेरे क़लाम से बेअदबी शाजो नादिर ही हो सकती है।...मैं फुहशनिगार (अश्लील लेखक) नहीं, अफ़सानानिगार हूँ।"

अफ़सानानिगार ही तो थे मंटो! ऐसे अफ़सानानिगार, जो बाद वक्तों में, खुद भी एक अफ़साने जैसे होकर रह गए।

आज जब हम सब मिलकर उनकी जन्मशती मना रहे हैं तो ऐसे समय में उनकी तहरीरों से यह अहसास होता है जैसे मंटो अपनी बेहतरीन अदबी ज़बान में खुद पर भी तवील अफ़साना लिखकर चले गए हों।

उनकी एक किताब का नाम है 'संगे लज़ज़त'! पत्थर का स्वाद! मंटो की जिंदगी, इतनी जटिल, ऊबड़खाबड़, तनाव से भरी और तक्लीफ़ों से अटी हुई थी कि लगता था जैसे उनकी जिंदगी संगे लज़ज़त हो!

लेकिन उस आत्मसम्मान और आत्म-विश्वास को आदाब, जो मंटो में था। "लोग मुझे सियाह क़लम कहते हैं, लेकिन मैं तख़्त-ए-सियाह (ब्लैक बोर्ड) पर काली चाक

से नहीं लिखता। सफ़ेद चाक का इस्तेमाल करता हूँ कि तख़्त-ए-सियाह की सियाही और भी ज़्यादा नुमायां हो जाए।"

यह तख़्त-ए-सियाह है क्या? यह तख़्त-ए-सियाह समाज ही तो है, जिसकी कालिख और विद्रूपता और बदकारी को मंटो व्यक्त करते रहे। हिंदू-मुसलिम फ़साद से वो कितने ज़्यादा विचलित थे और कितने ज़्यादा निराश, "यहां इस प्लेटफ़ार्म पर मज़मून सुनाते-सुनाते आप सबसे मार खा लूंगा और उफ़ तक न करूंगा, लेकिन हिंदू-मुसलमान फ़साद में अगर कोई मेरा सिर तोड़ दे तो मेरे खून की हर बूंद रोती रहेगी। मैं आर्टिस्ट हूँ, ओछे ज़ख़्म और भदे घाव मुझे पसंद नहीं।"

ओछे ज़ख़्म और भदे घाव को नापसंद करने वाले मंटो, बंटवारे से कितना अधिक विचलित हुए, ये उनके अफ़साने—टोबा टेक सिंह, रडवाल का कुत्ता, यजीद, गुरमुख सिंह की वसीयत, खोल दो—कहानियों में तक्सीम की वेदना और हिंदू-मुसलमान में घृणा पर भी तबसरा है। वो ये भी कहते हैं, "हम लिखने वाले पैगंबर नहीं। हम एक ही चीज़ को, एक ही मसले को, मुख़ालिफ़ हालात में, मुख़ालिफ़ ज़ावियों (दृष्टिकोण) से देखते हैं और जो कुछ हमारी समझ में आता है, दुनिया के सामने पेश कर देते हैं।...हमारी तहरीरें आपको कड़वी और कसैली लगती हैं, मगर अब तक जो मिठास आपको पेश की जाती रही, उनसे इन्सानियत को क्या फ़ायदा हुआ है?...यह ज़माना नए दर्दों का और टीसों का ज़माना है। नया अदब? जनाब वही है। सिर्फ़ लहज़ा बदल गया है। दरअसल, इसी बदले हुए लहज़े का नाम, नया अदब, तरक्कीपसंद अदब, फुहशअदब या मज़दूरपरस्त अदब है।"

मंटो ने अदब में न सिर्फ़ अपनी अलग जगह बनाई, बल्कि वो अपने समय के अदब में छाप भी रहे। उनकी हर कहानी, मज़मून की चर्चा होती। कहानियां तो ख़ूब चर्चित होतीं। उनकी ऐसी कोई कहानी नहीं, जो छपी हो और चर्चित न हुई हो। एक वक्त के बाद मंटो ख़ूब लिखने लगे थे—लगभग एक कहानी हर रोज़! वो कहते थे, "तुम मुझे जुमला दो, मैं तुम्हें कहानी लिख दूंगा।" यह लेखन उन गज़लों जैसा था, जो

‘तराह मिसरा’ पर लिखी जाती थीं। रोज़ाना कहानियां लिखने से मंटो का उसलूब, मंटो का जो कथाशिल्प था, उसमें भी अंतर आया, लेकिन लिखना उनकी आदत बन गया था और विवशता भी।

मंटो की पांच कहानियां जिन पर मुक़दमें चले—बू, ठंडा गोश्त, काली शलवार, खोल दो और धुआं!

विडंबना यह है कि मंटो के उपरोक्त अफ़सानों को लेकर फ़ुहश और ग़ैर-फ़ुहश पर बहस होती रही और मंटो इस आरोप के खिलाफ़, सवालों के नेज़े उछालते रहे और जवाब में अदालतें उन्हें सम्मन भेजती रहीं।...लेकिन उन अफ़सानों की भाषा, वातावरण, ह्यूमन साइकी की गहरी समझ, प्रतीकात्मता..इन तत्वों पर बहुत कम बात हुई। ‘बू’ कहानी में रनधीर पात्र है और उसके मन की विभिन्न अवस्थाएं हैं, जो बाहर खड़े पीपल के दरख़्त से पता चलती हैं। बारिश है और पीपल के पत्तों से पानी टपक रहा है। रनधीर को घाटन औरत की सांवली, पसीने से गंधाती देह और देह से उठती अजीब-सी बू सम्मोहित करती है। तब बाहर पीपल के दरख़्त से पानी गिरता है और पत्ते नाचते से प्रतीत होते हैं।...यह बू है क्या? यह एक श्रमिक स्त्री का पसीना है। वो बू, उसके पसीने से उठती श्रमगाथा है। यह देहराग है। रनधीर को वो बू या बदबू अपनी-सी लगती है—इसमें बनावट नहीं, वास्तविकता है।...लेकिन एक और स्थिति है। पलंग पर खूबसूरत, गोरी-चिट्ठी हाथों पर हिना की खुशबू बिखेरती औरत लेटी हुई है। खट्टी डकार...बदहज़मी...वगैरह! वो खूबसूरत औरत! बाहर बारिश! लेकिन पीपल के पत्ते लरज़ रहे हैं। दो स्थितियां हैं। मंटो अफ़सानानिगार ही नहीं, मंज़रनिगार भी हैं। पहली स्थिति में पीपल के पत्तों से पानी टपकता है और पत्ते नाचते हैं। पहली स्थिति में रनधीर घाटन लड़की के साथ वक़्त गुज़ारता है। दूसरी स्थिति! उसकी खूबसूरत पत्नी! हिना की खुशबू! लेकिन न वो अहसास, न



वो प्रबल भावना, न वो देहराग और न वो बू और उसका तिलिस्म!...बू कहानी में, खुशबू का नहीं, बू का तिलिस्म है। बू का ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव सिर्फ मंटो ही रच सकते थे। यहां पीपल के पत्ते लरज़ते (कांपते) हैं। आखिर क्या वजह है रनधीर जब पहली बार पीपल को देखता है तो बारिश में पत्ते नाचते हुए प्रतीत होते हैं, लेकिन आखिर में जब रनधीर के मन की कैफ़ियत बदलती है तो पीपल और बारिश वहां रहते हैं, लेकिन पानी पत्तों से टपकता है और वो लरज़ते (कांपते) हैं।

मंटो मंज़रकशी के फनकार थे। काली शलवार एक मेन्य कहानी है, जिस पर अश्लीलता का मुक़दमा चला। अंबाला छावनी की एक वेश्या सुल्ताना (मामूली हैसियत की वेश्या) खुदाबख़्श के साथ दिल्ली चली आती है। यहां उसका धंधा बिलकुल भी नहीं चलता और खुदाबख़्श यहां नाकारा साबित होता है। सुल्ताना की सोने की तमाम चीज़ें बिक चुकी हैं और उसके पास पैसे बिलकुल नहीं बचे। मोहरम नज़दीक है और उसे काले कपड़े सिलाने हैं। दुपट्टे और कमीज़ को उसने काले रंग में रंगवा लिया है, लेकिन सलवार? यहां शंकर की आमद होती है, जो आवारगर्द और बेहद चालू है। वो सुल्ताना के कान के बुंदे ले जाता है और काली सलवार दे जाता है। वो कहता भी है, “इस दुनिया में सिर्फ, दुकानदारी ही

दुकानदारी है और कुछ नहीं।”

सुल्ताना और शंकर में संवादों की अदायगी ऐसी है, जैसे चकमक पत्थर रगड़ खा रहे हों। संवाद चुस्त और अफ़साने को विस्तार देते हुए। एक-दूसरे की शख्सियत को रेशा-रेशा करते हुए। मंटो जानते थे वेश्या के कोठे पर किस दर्जा सपाट लहज़े में बात की जाती है। सुल्ताना और शंकर के बीच ‘गुफ़्तगू’, दरहकीकत, वेश्या और ग्राहक के बीच की गुफ़्तगू नहीं, ये गुफ़्तगू या संवाद..जिंदगी के हाशिए पर पड़े लोगों की हकीकतबयानी भी है कि ये लोग किस क़दर एक-दूसरे को ठगते-पुचकारते, काम निकालते और भावनाहीन होकर जिंदगी जीते चले जाते हैं।

मंटो ऐसे पात्रों को ही तो अपनी कहानी का किरदार बनाते रहे।

काली सलवार का वातावरण नायाब है। सुल्ताना के पास ग्राहक नहीं आते और वो मकान की खिड़की से रेलवे यार्ड (संभवतः नई दिल्ली का) को देखती है। शंट करते इंजन और मालगोदाम! वेश्या और सड़क पार यार्ड में शंट करते इंजन! सुल्ताना का उन शंट करते इंजनों को देखना, अपने भीतर की कसमकश की तहरीर ही तो है और मालगोदाम! शंट करते इंजन अस्थिरता का प्रतीक हैं तो मालगोदाम—अतिसाधारण लोगों की जिंदगी, मालगोदाम जैसी बनकर ही तो रह जाती है।

हर औरत के अंदर वेश्या बेशक न हो, हर वेश्या के अंदर एक अदद औरत ज़रूर होती है। सुल्ताना के भीतर बैठी औरत को एक ही फ़िक्र है मुहरम में काली सलवार की। ऐसी चिंता में डूबी सुल्ताना, बिलकुल साधारण औरत जैसी ही तो नज़र आती है—धार्मिक और धर्मभीरू!

अजीब बात है। मंटो मनोवैज्ञानिक विषय उठाते और अफ़साना अश्लील कहकर मुक़दमे की ज़द में आ जाता। जैसे कि ‘धुआं’ कहानी। एक किशोर होते छात्र मसजद के मनोभावों की तथा मानवीय सोच और बालअवस्था से किशोर होते छात्र देह,



मन और ज़ेहन की हलचल की कहानी है।

वातावरण यहां भी बेहद सशक्त है। मौसम सर्द है, लेकिन सर्दी में शिद्दत नहीं। मौसम कुछ वैसी ही कैफ़ियत का हासिल था, जो रबड़ के जूते पहनकर चलने से पैदा होती है। स्कूल की छुट्टी हो जाती है, क्योंकि स्कूल के सिकतर (सेक्रेटरी) की मौत हो जाती है। रास्ते में मसजद दो नंगे (जिनकी खाल खिंची हुई थी) बकरे देखता है, जिनका मांस अब भी फड़फड़ा रहा था। यह दृश्य अन्य लोगों के लिए सामान्य हो सकता है, मसजद के लिए नहीं था। खिंची हुई खाल वाले बकरे उसके ज़ेहन में अटके हैं। बड़ी बहन जब उससे कमर दबवाती है तो उसे कुछ अजीब-सा महसूस होता है, ऐसा कुछ कि अव्यक्त-सा! अवचेतन में कुछ धुआं-सा!

किशोर होते लड़के के मनोविज्ञान पर यह बहुत ही सशक्त और नए दृष्टिकोण से लिखी गई कहानी है।

ठंडा गोश्त!...अहमद नदीम कासमी साहब ने अपने रिसाले 'नकूश' के लिए मंटो से कहानी मांगी। मंटो ने कहानी मेज़ पर रखी। कासमी साहब ने कहानी पढ़ी ठंडा गोश्त! बोले, "मंटो साहब, माफ कीजिए, अफ़साना बहुत अच्छा है, लेकिन 'नकूश' के लिए बहुत गर्म है।"

मंटो ने दूसरा अफ़साना लिखा—'खोल दो'! कासमी साहब ने पढ़ा और वो अफ़साना नकूश में प्रकाशित हुआ। पूरा अफ़साना थरथराहट-सी पैदा करता है। फ़साद कितना कहर बरपा करते हैं, खासतौर से औरतों पर। खोल दो अफ़साना वेदना से ज़्यादा विरक्ति का, अफ़सोस से ज़्यादा समाज के अमानवीय चेहरे को नुमायां करता है। आखिरी पंक्तियां तो हाहाकार पैदा करती हैं, लेकिन व्यवस्था को यह अफ़साना समाज में बदअमनी फैलाने वाली रचना प्रतीत हुई और 'नकूश' पर छः महीने का प्रतिबंध लगा दिया गया।

ठंडा गोश्त! ठंडा गोश्त की पृष्ठभूमि में कल्लोगारत और फ़साद ही है। असामाजिक



तत्व और बुरे लोग, फ़साद के दौरान कितने सक्रिय हो जाते हैं और इन्सानियत मर-सी जाती है—अफ़साने के मूल में ये अमानवीय व्यवहार ही हैं।...अफ़साने में दो पात्र हैं—ईशर सिंह और उसकी पत्नी! दोनों ताक़तवर, गंवारू और दोनों गैर-जज़्बाती! उनके प्रतीक भी फूहड़ किस्म के हैं। देह की अंतरंगता को वे 'ताश फेंटना' कहते हैं और पत्ता फेंकने को...। इस तरह के प्रतीक मंटो ईज़ाद करते थे और वो इतने कामयाब होते थे कि अफ़साने में उनका खास मुक़ाम होता था।

ईशर सिंह ने एक मकान पर धावा बोला और कई आदमियों का क़त्ल किया। चेहरे पर ज़रा-सी शिकन न आई। वहां एक जवान लड़की को वो अपने कंधे पर डालकर जंगल में ले आता है। झाड़ियों में लड़की को लिटाते हुए वो बिलकुल भी मनुष्य जैसा नहीं लगता था।

यहां वो अपनी पत्नी को वाकया बयान करता है, "मैंने उसे लिटा दिया। पहले सोचा 'फेंटू', लेकिन फिर ख्याल आया कि नहीं...।" यह कहते-कहते ईशर सिंह की ज़बान सूख गई।

कुलवंत कौर ने थूक निगलकर, हलक़ तर किया और पूछा, "फिर क्या हुआ?"

ईशर सिंह के हलक़ से बमुश्किल ये अल्फ़ाज़ निकले, "मैंने... मैंने पत्ता फेंका, लेकिन...लेकिन...।" उसकी आवाज़ डूब गई।

ईशर ने अपनी बंद होती हुई आंखें खोलीं, कुलवंत के जिस्म की तरफ़ देखा, "वह वह मरी हुई थी। लाश थी, बिलकुल ठंडा गोश्त!"

ठंडा गोश्त अफ़साने पर मंटो जो ख़द बयान देते हैं, वो सबसे बड़ी टिप्पणी है और तनक़ीद भी, "ईशर सिंह गंदादहन सही, अफ़साने का मौजू घिनावना सही, लेकिन क्या इसको पढ़ने के बाद, हमें इन्सानियत की वो रमक़ दिखाई नहीं देती, जो ईशर सिंह के सियाह क़तब (दिल) में खुद उसका मक़ूह फूल पैदा करती है—और यह एक सेहतमंद चीज़ है कि इस अफ़साने का मुसन्निफ़, इन्सानों और इन्सानियत से मायूस नहीं हुआ।... ईशर सिंह को आखिरी सांस तक सिर्फ़

एक बात सताती रहती है : वह एक ठंडी लाश से ज़िना (व्यभिचार) करने वाला था।"

यह कहानी बड़े डाइमेंशन की हाहाकार मचा देने वाली कहानी है। एक ही पल में पांच-छः लाशें बिछा देने वाला ईशर सिंह, इस बात से नपुंसक हो जाता है कि वो एक लाश से व्यभिचार करने वाला था। अन्य अफ़सानों की तरह, ठंडा गोश्त कहानी भी ख़त्म नहीं होती और सवालियों की पदचाप देर तक सुनाई देती है।

यही, महान अफ़सानानिगार सआदत हसन मंटो, जिसकी तहरीरें, बयान, लेख और अफ़साने पाठकों को अपना बना लेते थे, जिसकी कहानियां छपतीं और चर्चा का बाज़ार गर्म हो जाता...यही मंटो, जिसके पास अपना मकान तक नहीं था। उसे कहीं जाना होता तो उसे साइकिल किराए की लेनी पड़ती थी।

यह किताब—गुनहगार मंटो (मंटो अब तक-9) जिसका लिप्यंतरण शकील सिद्दीकी ने किया है, जिसमें मंटो की कहानियों पर चले मुक़दमों की रूदाद (वृतांत) और क़ानून की ज़द में आई कहानियां शामिल हैं।

किताब में शामिल मुक़दमों की रूदाद (वृतांत) मंटो के अफ़सानों की तरह,

नस्त्रनिगारी का शानदार उदाहरण है। मंटो अल्फ़ाज़ के पीछे किसी शिकारी की तरह भागते थे।

मंटो ने जब भी लिखा और किसी भी सिन्फ़ में लिखा, तो ऐसा हुआ जैसे दरियाओं की रवानी उनके गद्य में शामिल हो गई है। अदालत में पेश की जाने वाली तहरीरें अक्सर खुशक और अपठनीय होती हैं, लेकिन मंटो की तहरीरें हैरत में डाल देती हैं। अदालत में पेश की गई तहरीरें भी अदब की हैसियत रखती हैं और पाठक उन्हें दम साध के पढ़ता है। मंटो के पास करिश्माई उसलूब (शैली) था और तिलिस्म पैदा करती हुई ज़बान!

मंटो बंटवारे पर बेहद गुमज़दा थे। उनका दुख और कश्मकश, उनके उन अफ़सानों में देखी जा सकती है, जिनके केंद्र में बंटवारे/फ़साद/की जड़ है। संवेदना से भरपूर मंटो हमेशा इन सवालियों में भी घिरे रहे कि क्या पाकिस्तान का अदब अलग होगा? क्या हिंदुस्तानियों और पाकिस्तानियों की समस्याएं एक जैसी नहीं?

मंटो की मौत पर उर्दू के मशहूर आलोचक (पाकिस्तान में मुक़ीम उर्दू अदब के नक्क़ाद) मोहम्मद हसन असकरी ने लिखा था—मंटो बे-वक़्त पर मरा या वक़्त पर, लेकिन उसके मरने से हमारे अदब को बहुत बड़ा नुक़सान पहुंचा है। पाकिस्तान में बस एक आदमी था, जिसने सिर्फ़ अदीब की हैसियत से जीने की हिम्मत की। उस कोशिश में खुद उसे और उसके खानदान को जो अज़ीयतें बर्दाश्त करनी पड़ीं और उसने जितनी बदनामी मोल ली, वह तो अलग बात है।”

गुनहगार मंटो/सआदत हसन मंटो/अनुवाद : शकील सिद्दीकी/वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 300

1875, सेक्टर-6, बहादुरगढ़-124507 (हरियाणा)  
मो. 09813491654

कहानी

# छटपटाहट भरी कहानियां

सरिता शर्मा

वि

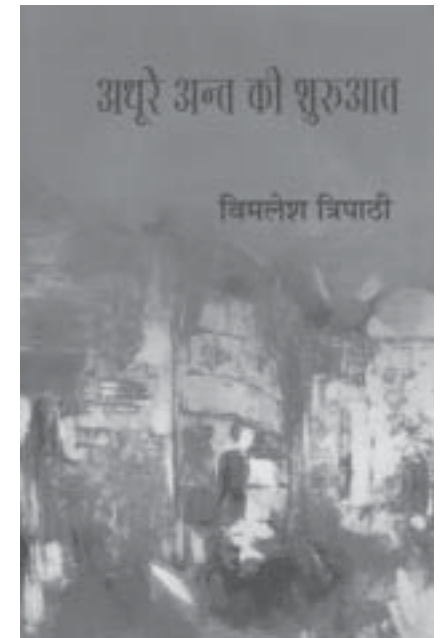
मलेश त्रिपाठी हाल ही में उभरे युवा कथाकारों में महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनका कविता संकलन ‘हम बचे रहेंगे’ बहुचर्चित रहा है। उनके कहानी संकलन ‘अधूरे अंत की शुरुआत’ को भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा नवलेखन पुरस्कार प्रदान किया गया है। इसकी सातों कहानियों में वर्तमान युग में अनेक समस्याओं का सामना करने वाली मध्यमवर्गीय युवा पीढ़ी को दर्शाया गया है।

विमलेश त्रिपाठी मूलतः कवि हैं, जिसके परिणामस्वरूप कथानायकों का काव्यात्मक आत्माचलन चलता रहता है। भाषा-शैली गूढ़, मगर प्रवाहमय है। कहानियों की कथावस्तु आज के उलझे हुए और भटकाव वाले समय को दिलचस्प अंदाज में प्रस्तुत करती है।

‘अधूरे अंत की शुरुआत’ कहानी में लेखक कहानी लिखने के लिए खुदी से संपर्क करता है, जो अपने दोस्त प्रभु उर्फ़ राकेश की डायरी और उसके साथ बिताए दिनों के बारे में बताता है। मुख्य पात्र राकेश यौन ग्रंथि का शिकार है, जो बड़ी-बड़ी बातें करता है। बचपन में गांव में दोस्त बिरजू द्वारा उसके साथ की गई छेड़छाड़ से परेशान होकर वह भागकर कलकत्ता आ जाता है, जहां कॉलेज में पल्लवी से प्रेम करने लगता है। प्रेम में तिरस्कृत होने के बाद वह कॉलेज से भी भाग जाता है। कहानी के अंत में पता चलता है कि कथावाचक ने पल्लवी से शादी कर ली है और प्रभु के बारे में विस्तार से जानने का कारण कहीं-न-कहीं उसकी पत्नी से जुड़ा हुआ है। संजीव ने इस कहानी को प्रेम की सकारात्मक दृष्टि को स्थापित करने वाली कहानी बताया है। इसकी बुनावट जटिल है और प्रभु की मनोस्थिति को काव्यमय भाषा में दिया गया है, ‘मैं एक ऐसे समाज में जी रहा हूं, जिससे मुझे बहुत

शिकायतें हैं। यह वही समाज है, जिसने मेरे मन में एक अंधी सुरंग बनाई है और मुझे इतना कमजोर बना दिया है कि मैं प्रतिवाद की भाषा तक नहीं सीख पाया हूं।’

‘परदे के इधर-उधर’ में सिनेमा और असली जिंदगी का विरोधाभास दिखाया गया है। इसकी शुरुआत में लेखक सूत्रधार की भूमिका में इतनी देर तक कहानी के बारे में अपनी धारणा बताता है कि पाठक का धैर्य चुकने के कगार पर चला जाता है, हालांकि कहानी बेहद दिलचस्प है। शिल्प और घटनाक्रम की दृष्टि से भी यह पहली कहानी जितनी दुरूह नहीं है। दुर्लभ भट्टाचार्य मध्यम वर्ग का बेरोजगार युवक है, जो सिनेमा देखता है और अपने सपनों को कविताओं में ढालता है। फिल्म भले ही सकारात्मक हो, मगर दुर्लभ की अपनी जिंदगी समस्याओं से घिरी हुई है। मां की मौत के बाद वह कविताओं की पुस्तकें कबाड़ी की दुकान में बेच आता है। देवदास की तरह वह अपना जीते जी तर्पण कर देता है और कहानी यहीं समाप्त हो जाती है। खुले



अंत के कारण यह कहानी एक पात्र की न रहकर व्यापक संदर्भ प्राप्त कर लेती है 'इस देश में रोज ही ऐसी सैंकड़ों घटनाएं घटती हैं। हो सकता है, ऐसी ही किसी घटना की तरह दुर्लभ दा भी घटनाओं की भीड़ में खो गए हों।'

'खंडहर और इमारत' में बच्चन, निर्मल वर्मा और नवल को समर्पित करने से उसके मूड और नए ट्रीटमेंट की ओर इशारा किया गया है। वर्तमान घटनाक्रम को आभासी 'टच' देने से नायक की मनोदशा और कटु सच को जबर्दस्त ढंग से उजागर किया गया है। कविताएं लिखने वाला काली मजुमदार प्रेम विवाह करने के कारण आश्वस्त था कि पत्नी उसकी मां के साथ मिल-जुलकर रहेगी। मां और पत्नी के बीच कलह के चलते मां गांव चली जाती है। 'एक आंख रोकती थी, और दूसरी चाहकर भी रुक नहीं पा रही थी। मां जा रही थी और उनके साथ काली बाबू के बचपन से जवानी तक का समय जा रहा था।'

'चिन्दी-चिन्दी कथा' में सांप्रदायिकता पर गंभीर विचार किया गया है। मुसलमान युवक जब हिंदू लड़की से प्रेम करता है, तो कस्बे में हलचल मच जाती है। पूरी कहानी में स्मृतियों पर विशेष जोर दिया गया है। कविताएं लिखने वाले और गुलज़ार, सुदर्शन, फाकिर और फैज़ की गज़लों के दीवाने युवक सोचते हैं कि दुनिया बदल रही है, मगर बाबरी मस्जिद ढहा देने के बाद कस्बे में तनाव फैला हुआ है। सूर दादा ऐसा पात्र है, जो पागल समय में धर्मनिरपेक्षता की बात करता है। वह अली और उसकी हिंदू प्रेमिका को भागने में मदद करता है और लड़की के पिता को समझाने की कोशिश करता है। उसे चौराहे पर घसीट-घसीटकर मार दिया जाता है। अरमन अली का बेटा अपने पिता के मित्र कथानायक से मिलने आता है और सवाल पूछता है कि उसने पुलिस के सामने अरमन अली को टेरेरिस्ट क्यों मान लिया था। कथानायक अपने कृत्य पर शर्मिंदा है और पूरा मुहल्ला मिलकर अरमन अली के बेटे को प्यार से विदा करने आता है, 'आज फिर जा रहा था कोई, पर उसका जाना सालों पहले अली के जाने की तरह नहीं था। सवाल अब भी थे, शायद कल भी रहेंगे और हमें बार-बार उनसे टकराना होगा।'

इन सभी कहानियों में कुछ समान तत्व देखे जा सकते हैं, जैसे चाहा-अनचाहा लेखकीय

हस्तक्षेप, काव्यात्मक शैली और मध्यमवर्गीय शिक्षित, संवेदनशील युवक, जो कथानायक है। 'अथ श्री संकल्प कथा' भी लेखकीय नोट से शुरू होती है, जिसे बड़बड़ाहट कहा जा सकता है। नायक संकल्प प्रसाद शादीशुदा और सरकारी नौकरी में है, जिसे साहित्य से गहरा अनुराग है। मुक्तिबोध से वह इतना प्रभावित होता है कि उसके सपने देखना शुरू कर देता है। आभासी दुनिया से जुड़ने के कारण भी उसे दफ्तर का काम उबाऊ लगने लगता है। सपने में मुक्तिबोध उसे संबोधित करते हैं, 'तुम मेरे वही संकल्प हो, जिसे पूरा न कर सका। क्या तुम लड़ोगे उसी के लिए या लड़ रहे हो।' सपने और यथार्थ की आवाजाही से उसका मानसिक संतुलन बिगड़ने लगता है। उसे टैगोर और लालन फकीर भी दिखाई देने लगते हैं।

भिखारी के पास बैठकर उसका माथा सहलाता है और मुक्तिबोध की शकल वाले पिचके गालों वाले अधेड़ के साथ उस बूढ़े के पास चला जाता है, जिसके सिर के नीचे दुःख की पोटली है। संकल्प प्रसाद बूढ़े को पहचानने की कोशिश करता है 'प्रेमचंद, निराला, अवतार सिंह पाश, सबके चेहरे एक-एक करके उस बूढ़े की शकल पर चिपकते जा रहे थे। रोता हुआ वह बिल्कुल मोहनदास करमचंद गांधी की तरह लग रहा था।' यह कहानी उदय प्रकाश की लंबी कहानी 'मोहनदास' की याद दिलाती है, जिसके उत्तर कथन में आज के बिगड़े हुए हालात पर आम आदमी की लाचारी व्यक्त की गई है। शिल्प और कथ्य में यह कहानी अनूठी है।

'पिता' कहानी में विचार ही विचार हैं। पिता, पुत्र और दादा की तीन पीढ़ियों के बीच पिता ही कहानी को अपनी विचार-शृंखला से आगे बढ़ाता है। उसका तेईस साल का पुत्र नाराज होकर कुछ कड़वी बातें कहकर विदेश चला जाता है, तो पिता फ्रेम में जड़ी अपने मृत पिता की तस्वीर को देखकर अतीत में डूब जाता है। कभी वह भी किसी लड़की से प्रेम के चलते पिता को नाराज करके आ गया था और उसके बाद उनसे कभी भी बात नहीं हुई थी। यह कहानी हरमन हैस के उपन्यास 'सिद्धार्थ' के अंतिम दृश्य की याद दिलाती है, जिसमें सिद्धार्थ का बेटा उसे छोड़कर जाता है तो उसे वही दृश्य याद आता है, जब उसके

पिता ने भी रोकने की कोशिश की थी, मगर वह नहीं रुका था। सूक्ष्म अंतर्दृष्टि वाली इस कहानी को कतिपय विस्तार देकर बेहतर बनाया जा सकता था।

इस संकलन की एक कहानी स्त्री-विमर्श पर है 'एक चिड़िया, एक पिंजरा और कहानी' जो विजय और ट्रीटमेंट में बाकी सब कहानियों से हटकर है। इसमें कथाकार थोड़ा 'लाउड' हो जाता है और जातिवाद तथा बलात्कार का दंश झेलने वाली नायिका की तरफदारी करता है। ऊंची जाति के युवक से प्रेम करने वाली युवती रश्मि को उसका पिता ही हवस का शिकार बनाता है और फिर उसे कई बार बेचा जाता है। जिस प्रकार देवदास पारो से अंतिम बार मिलने के लिए जाता है, कथावाचक भी बार-बार पूछता है 'आजमपुर कहां है?' जब वह अंततः रश्मि से मिलता है तो वह अपने पति, माता और पिता का कत्ल करके अपनी कलाई की नसें काट चुकी होती है। नायक अस्पताल में मरती हुई नायिका से मिलता है तो द्रवित हो उठता है। तेजी से चलने वाली यह कहानी कुछ मेलोड्रामाटिक हो जाती है, जिसमें सभी आततायियों का कत्ल कर देने का सरल समाधान दिया गया है। प्रेम में जाति गौण हो जाती है 'जिस लड़की के लिए हमारे रसोईघर में पैर रखने की मनाही थी, वह मेरी तथाकथित पवित्र और सवर्ण देह की यात्रा कर रही थी।'

इस संकलन की सभी कहानियों को बहुत धैर्य और दक्षता से रचा गया है। छटपटाहट के बावजूद लगभग हर कहानी के अंत में आशा की किरण दिखाई देती है। आत्मालाप और काव्यात्मक शैली कहीं-कहीं कथाप्रवाह में बाधा डालते हैं। महान लेखक भी अवचेतन में रचना-प्रक्रिया पर असर डालते हैं। लेखक ने खुद को ही मुख्यतः कथावाचक या नायक के रूप में इस्तेमाल किया है, मगर संवेदना और कहने की विशिष्टता के कारण लगभग सभी कहानियां पठनीय हैं।

अधूरे अंत की शुरुआत/विमर्श त्रिपाठी/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/मूल्य : ` 130

1975, सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुडगांव-122001 (हरियाणा)/मो. 9871948430

# लोक संवेदनाओं को पुनर्प्रतिष्ठित करती कविताएं

नरेंद्र पुंडरीक

‘स

मुद्र में नदी’, वरिष्ठ कवि दिनेश कुमार शुक्ल का नया कविता संकलन है, जो हाल ही में ज्ञानपीठ प्रकाशन से आया है। दिनेश कुमार शुक्ल

लोक के अंतर्निहित भावों के मुखर प्रवक्ता के रूप में समकालीन हिंदी कविता के बीच सामने आए हैं, जिन्होंने किसानों, मजदूरों, घरों में, खेतों में खटती कामकाजी स्त्रियों को अपनी कविता में जगह-जगह व्यंजना और अभिधा से मुखर रूप दिया है; कविता में ऐसा मुक्त छंद और लय लेकर आए हैं, जिसने समकालीन हिंदी कविता में नई संभावना दिखाई है। इस डगर में चलते हुए उन्होंने ऐसे दृश्यों का चुनाव किया है, जो कविता की रचनात्मकता के लिए नए अर्थों का सृजन हर पल करती दिखाई देती है, इन कविताओं में मुक्त छंद की ऐसी लय यति, गति और सहज प्रवाह है, जो दिनेश कुमार शुक्ल को निराला, केदार, त्रिलोचन सहित पितृ पीढ़ी की पंक्ति में लाकर खड़ा कर देती है।

इनकी कविताओं में एक ओर स्मृतियों का ऐसा स्वच्छ कलकल करता झरना है, तो दूसरी तरफ आज का यथार्थ है। इन दोनों के बीच इनकी कविता की अर्थगंभीरता स्फटिक की तरह चमकती है। इनकी कविता की भाषा इनके आत्मसंघर्ष और अतीत के संचित कोश से मिलकर सृजित हुई है। कविता का सौंदर्य शब्दों में नहीं, कवि की आंखों में बसता है। आंखों में बसे सौंदर्य को कवि शब्दों में क्रीयेट करता है, क्रियेशन ही कविता है, इनकी कविताओं को पढ़कर लगा कि यह क्रियेशन के कवि हैं, “बहुत बूढ़ा कौतुकी अकेला एक देवदारु/फुनगी पर सजाकर सूर्य का किरीट/धूप छांव की लीला करता है/बादलों के तैरते रंगमंच पर।” इस कविता के क्रीयेट सौंदर्य को देखते हुए मुझे केदारनाथ अग्रवाल की कविता की ये पंक्तियां याद आ गईं, “एक वित्ते के बराबर/ठिगना चना/बांधें मुरैठा शीश

पर/तनकर खड़ा है।” एक अच्छी कविता का प्रभाव यही है कि वह अपने सादृश्य रूप और प्रभाव की दूसरी अच्छी कविता की याद दिला दे, इसके साथ ही दिनेश की चिंता आज के यथार्थ की चिंता है, जिसमें अतीत की स्मृतियों के साथ वर्तमान की संवेदना गहरे अर्थों के साथ उनमें बैठी दिखाई देती है। इनकी कविताओं का सौष्ठव यथार्थ से जुड़कर प्रकट होता है, “आंसुओं में क्यों है इतना नमक/आखिरकार कपड़े उतारकर/प्रजातंत्र ने पहन ही लिया राजमुकुट।” यह छले जाने का आक्रोश है, सपने टूटने का आक्रोश है, जो आंसुओं में बढ़ते नमक के रूप में सामने आ रहा है। लोक से सीधे कवि का जुड़ाव है, जो इनकी कविताई का प्रमुख स्रोत है। लोक के जुड़ाव से उत्पन्न रागात्मकता इनकी कविताओं में सर्वत्र दिखाई पड़ती है, यह राग बीते का ही नहीं, आने वाले का भी उसी शिद्दत से स्वागत करता है, “रेखाएं अब हो चली क्षीण/अकार बहुत गहराई में/ईंटों के भीतर डूबे से/ताना-बाना है बहुत घना/संरचना भी उलझी-उलझी/पर जो भी चित्र देख पाता/अपने को पाता उसमें।”

यह जो अपने को पाने का राग है, यह विरल है, कवि का यही विरल राग न जाने कहां-कहां की सैर उससे करवाता है, कहां-कहां उसे ले जाता है। सैर की गई सारी ठौरों को यथार्थ से, उसकी चिंताओं से जोड़ते हैं। मुक्त छंद में होते हुए भी इनमें गीत की लय बराबर मिलती है, इनकी काव्य-भाषा में ऐसी आंतरिक लय है, जो इनके समकालीनों में किसी के पास नहीं है। इनकी कविताओं में आए काव्य प्रकाश से कवि के आंतरिक एवं बाह्य प्रदेश आलोकित होते हैं और नई अर्थवत्ता के साथ यथार्थ को सामने लाते हैं। प्रतीक एवं बिंबों द्वारा नए अर्थ गढ़कर जिस तरह से कविताओं में लाते हैं, वह गौरतलब है, “स्मृतियां/काल व्याल के/फण की मणि हैं/जिनसे स्निग्धा लोक बरसता/जो करता/पथ को अवलोकित।” स्मृतियों के अर्थप्रकाश को और भावप्रकाश को

कविता में परिभाषित करना निश्चय ही विरल है, इस कविता की यह पंक्तियां भी देखें, “बलिदान के फासफोरस से चमकती/मुक्तिकामी पूर्वजों की/साथियों की/अस्थियां/दूर तक बिखरी हुई हैं/रोशनी के फूल/जिनको बीनते हैं हम।” दिनेश ने आज के टूटते-बिखरते जीवन के समीकरणों को समझा है और उसे भरपूर व्यक्त भी किया है, “अब हम बिल्कुल भूल चुके हैं/आजादी के मानी क्या हैं/क्या होता है सबका भाई-भाई होना/सबका सबके दुख में रोना/सब कुछ पाकर/सबके हित में/सब कुछ खोना।” जीवन और उसका लोक तत्व इनकी कविता का केंद्रीय तत्व है। कवि की रचनात्मकता इसी के इर्द-गिर्द घूमती है। इनकी कविताएं कभी घटना, कभी बिल्कुल थिर होकर कविता का रचाव करती हैं, जो रचती हुई यथार्थ के नए अर्थों को खोलती हैं, किसान के भदेस और जीवन के भीतर कहीं गहरे पैठी मुक्ति चेतना की कविताएं हैं, कठोर जीवन और मेहनत से अर्जित जीवन-मूल्यों के प्रति समर्पित कविताएं हैं। लोक संवेदना को



कविता में पुनर्प्रतिष्ठित करती हैं, दिनेश की कविताएं। लोक राग की भीगी हुई संसृक्ति इस कविता में देखें, “घड़ौची, रसोई पूजाघर, जच्चकी वाली दलानों से घिरा/भीतरी आंगन कभी-कभी छोटे-से नीम या मंजोले मौलसिरी/का भी घर होता/अंतेवासियों में इसीलिए पेड़ में रहने वाली चिड़िया भी शामिल थी पूरी तरह।” दिनेश की कविताएं इस धरती में उपजी, पली-बढ़ी कविताएं हैं, जिनमें मिट्टी की सौंधी गंध, पेड़ों का हरापन, हवा की मस्ती, सुबह-शाम आकाश और धरती का सौंदर्य, आकाश का खुलापन, पेड़ों का झूमना, पक्षियों की चहचहाहट, गांवों के जानवरों का रंभाना, सब है। धरती का यह सब रस ही इनके जीवन का रस है। धरती के रस और लय से इनकी कविताओं का एक-एक पोर भीगा हुआ है। एक कविता में लिखते हैं, “अपनी सुंदर माताओं/दादियों नानियों के/बिवाई फटे पांवों से टपकी/खून की बूंदों के सहारे/दूँदो अपनी राह।” आज पूंजी के इस गहन अंधकार से जीवन को उबारने का काम हमारा अतीत कर सकता है, जिसे हम पिछड़ा कहकर छोड़ आए हैं। पूंजी द्वारा उत्पन्न आपाधापी से जीवन को काठ होने से हमारा अतीत ही बचा सकता है। दिनेश की कविताएं ताल-बेताल और बेढंगी चाल चलते बहुरंगी-बहुढंगी और बिना सुर का सुर निकालते समाज को साधने के प्रयास की कविताएं हैं, साधने के लिए यह स्मृति, स्वप्न, फैंटसी, सभी को अपनाते हैं, लय और भाषा से संवारकर कविता को आगे बढ़ाते हैं। इनकी लंबी कविताएं अभिनव रूपक का आख्यान रचती हैं, स्वप्न कथा में जीवन और समय के नए यथार्थ को खोलकर रखती हैं। इन कविताओं में नए यथार्थ सृजित होकर स्फटिक की तरह चमकते हैं, काल सेंटर समाचार, दिल्ली जैसी कविताओं में यही यथार्थ लौकता है। टूटते-रिरियाते जीवन के बीच से देखें, “तुम जो पढ़कर निकले हो/नए-नए स्कूलों से/वहां वस्तु के वास्तुशास्त्र के/प्रोफेसर ही रहते हैं/वो मार्केट के मरकट हैं/वो स्वांग बदलते रहते हैं/जिस दिस बहे बयार पीठ वे/सदा उधर ही रखते हैं।”

लोक के सहज जीवन और राग-लय की ताकत है कि दिनेश की कविताएं कंठ में बसने की क्षमता रखती हैं, वरन समकालीन हिंदी कविता परंपरा जीवन और लोक से कटी होने के कारण लोगों से दूर होती जा रही है। दिनेश लोक जीवन और अद्यतन समय और समाज में अपनी कविताई का फोकस रखते

हुए फिर से कविता को पाठकों के पास ले जाने के उपक्रम में सफल होते दिखाई देते हैं। वर्तमान में ऐसे कवियों में ये अकेले नजर आते हैं, साथ ही मरकट पूंजी, सांप्रदायिकता, खीझता उपभोक्ता, सीझता बाजार, प्रदूषण से सड़ता-गंधाता परिवेश। इन सबमें दिनेश की मारक बेधक दृष्टि है। दिनेश की कविताएं इस जंगल तंत्र की जनगाथा का आख्यान-सी लगती हैं। देखें यह कविता, “साक्षरता क्या बढ़ी/कि लुप्त होने लगी पुस्तकें/बढ़ती समृद्धि ने/छीन लिए कितनों के रोजगार/अन्न ने ही हर लिए/अन्न उपजाने वालों के प्राण/छीजते पौरुष के साथ-साथ/बढ़ने लगी पुरुष ग्रंथि/कुरुपता के बढ़ते घटाटोप में/बाढ़-सी आ गई विश्व सुंदरियों की।”

कवि का धरती को थका-थका देखना और ईश्वर को असहाय-सा पाना कवि की सजग दृष्टि का परिचय देता है। इस लाभ-लोभ के समय में जहां भोगी मन और के लिए चीजों की भरमार है, दिनेश की यह कविताएं डूब रहे मन को उबारने-थामने का काम करती दिखाई देती हैं। इन कविताओं में आदमी के संघर्ष, एक स्वप्नदर्शी आदमी के संघर्ष हैं। स्मृतियों के उजालों में रास्ता ढूंढकर चलता है, “झपट्टा मारती चीलों से बचता बचाता/ इतिहास भाषा अस्मिता स्मृति बचाए/जा रहा है लाल गुदड़ी में छिपाए वो किसान/वही है हिंदुस्तान/वही तुलसी सूर मीरा और कबीर/ भक्ति आंदोलन वही है/वही तो है सिक्ख सतनामी मराठा जाट/वही भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम/वही गांधी भगतसिंह सुभाष/ उसी के पदचाप के आलोक में/टोहता है ढूंढता है देश/अंधेरे में खोया हुआ पथ।” दिनेश समकालीन हिंदी कविता के विरल लोगों में हैं। लोक का जीवन अपनी पूरी समग्रता और शिद्धत के साथ व्यक्त हुआ है, इनकी कविताओं में आदमी और उसके प्राकृत परिवेश के बीच ऐसा गहन राग प्रवाहित होता है, जो आदमी के भटके और टूटे हुए मन को जोड़कर उसमें जीने की ललक और साहस पैदा करता है। अपने पूर्वज कवियों के काव्य की अक्षुण्ण धार इनकी कविताओं में सतत प्रवाहमान है, जिसे आज विरले ही सहेज पाए हैं।

समुद्र में नदी/दिनेश कुमार शुक्ल/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 /मूल्य : ` 160

डी.एम. कॉलोनी, सिविल लाइन, बांदा-210001, मो. 9450169568

## महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने— एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

# स्मृति : स्वप्न और कविता

केवल गोस्वामी

कु

छ सप्ताह पूर्व दिल्ली के एक दैनिक समाचार-पत्र में फिर से यह बहस छिड़ी कि क्या कविता का अंत हो गया है।

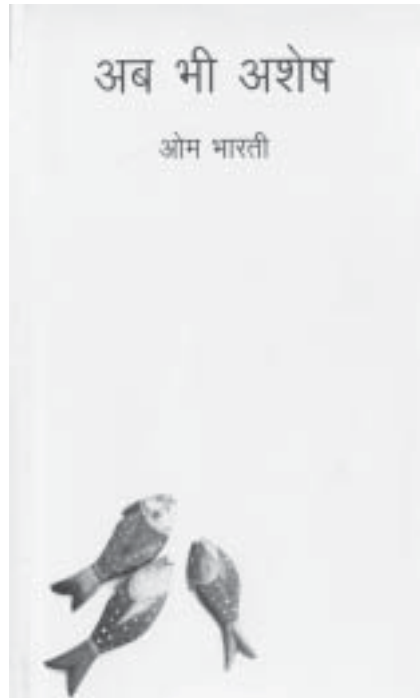
इस बहस में आलोचकों, कवियों और प्रकाशकों ने तो अपना-अपना मत रखा, किसी पाठक की राय देना यहां भी जरूरी नहीं समझा गया। प्रकाशक की बात तो समझ में आती है कि वह बाजार का रुख देखकर किताब छापता है, भले ही वह किसी विधा की हो। पचास रुपये लागत मूल्य की पुस्तक पर मुद्रित मूल्य पांच सौ रुपये होता है, ऐसे में पाठक खरीदने की हिम्मत कहां तक जुटा सकता है? फिर कई छोटे-मोटे प्रकाशकों के पास तो अपना शो-रूम भी नहीं है, जिससे काउंटर सेल की संभावना बन सके, ऐसे में कविता की पुस्तक नहीं बिकती, की शिकायत कहां तक जायज है।

एक ओर जहां कविता की मृत्यु की घोषणा है, वहां पर ऐसा आकलन भी अखबारों में पढ़ने को मिलता है, “हिंदी कविता का देश और विदेश में 50-55 करोड़ रुपये का बाजार है और यह बाजार लगातार फैलता जा रहा है।” अब अगर बाजार ही कविता की श्रेष्ठता का मापदंड है तो फिर गुणवत्ता की बात करना बेकार है। अच्छी-बुरी रचनाएं किस युग में नहीं रहीं? प्रेमचंद रहे हैं तो दूसरी ओर गुलशन नन्दा जैसे लेखक भी रहे हैं, जिनकी पुस्तकों के लाखों के संस्करण छपे और बिके! पैसे लेकर पुस्तक छापने के चलन से भी बाजार प्रायः दोगुना दर्जे की रचनाओं से पट जाता है, पाठक ऐसी रचनाओं से बिदकता है और शोर मच जाता है कि कविता का अंत हो गया। विदेशों में जिस प्रकार पुस्तक छपने से पूर्व उसके प्रमोटर

और प्रकाशक मिल जाते हैं, हमारे देश में यह परिपाटी नहीं है, इसलिए पाठक तक जेनुइन कविता मुश्किल से पहुंच पाती है। लोकार्पणकर्ता या समीक्षक भी धीरे-धीरे विश्वसनीयता के घेरे से छिटकते जा रहे हैं।

कवि यदि अपनी कविता की जमीन को पहचानता है, उस पर रचना उकेरने के लिए वह अपने अनुभवों, भाषा-शैली का भी चुनाव करेगा, चूंकि कवि का हर अनुभव काव्यानुभव नहीं होता, इसलिए इस दिशा में उसे अधिक सजग और सावधान होने की जरूरत है, यह तभी संभव हो सकता है, जब रचना प्रक्रिया के दौरान आलोचक, प्रकाशक के अतिरिक्त किसी पाठक की छवि भी उसके आस-पास हो।

‘अब भी अशेष’ ओम भारती का



पांचवां कविता-संग्रह है। माना जाना चाहिए कि यह संकलन उनके पूर्व संकलनों की अगली कड़ी है। स्मृतियां पांव के नीचे ठोस धरती होने का अहसास ही नहीं देतीं, अपितु वर्तमान में अगला पुख्ता कदम उठाने में भी उनका सक्रिय योगदान होता है, स्वप्न रचना को गति देता है। वह परंपरा और आधुनिकता का समन्वय स्थापित कर उसे समसामयिक बनाता है। साथ ही भविष्य की झिलमिलाहट की ओर भी इशारा करता है। लोक रंग, लोक जीवन तदनुरूप भाषा-शैली उसकी सहायता के लिए स्वतः तत्पर रहती हैं।

संग्रह की शीर्षक कविता ‘अब भी अशेष’ की ये पंक्तियां दृष्टव्य हैं, “माइक तो पहुंचाते हैं केवल कवि शब्द/कविता पहुंचे उसका भार नहीं लेते/कवि को ही रहना होता है चौकन्ना/अंतिम से प्रथम क्रम के श्रोता के वास्ते।

यह एक स्वस्थ एवं सार्थक संकल्प है, किंतु रही भावुकता से लबरेज होने की बात, श्रेष्ठ कविता की अंतिम और प्रथम श्रोता के मध्य की ग्रहणशीलता को समान नहीं बना सकती, कविता जहां तक, जैसे भी, जितनी भी पहुंचे, पर पहुंचे जरूर, यही कविकर्म की सार्थकता है। ओम भारती की प्रकृति संबंधी कविताएं अधिक सबल, सक्षम और संप्रेषणीय हैं। ‘ठहर गई कायनात’, ‘बारिश’, ‘रात1’, ‘रात2’ कविताओं में शब्द ही नहीं, शब्दों की प्रतिध्वनियां भी लौट-लौटकर आती हैं तथा ये कविताएं अधिक मुखर और संप्रेषणीय हो जाती हैं। स्मृतियां—बिछुड़ गए मां-बाप की हों—जहां तमाम संप्रतिक दायित्वों से मुंह मोड़कर बचपन के उन दिनों में लौट जाने की जिद हो। भले ही ये सब भ्रांतियां हों, किंतु कविमन

भटकन में सुख ढूंढने की चेष्टा करता है। वह घर, जहां व्यक्ति का जन्म होता है, घुटनों चलता है, डगमग पग, अठखेलियां, वह जीवन भर निर्माण काल के इन अनुभवों को संग-संग लिए रहता है और वहां वर्तमान से ग्रस्त होता है। इनमें झांककर संतुलन बनाने की चेष्टा करता है, उसमें कभी तलत महमूद आते हैं, “तलत महमूद के किसी फोन नंबर का/मेरी डायरी में/नहीं रहा कभी वजूद/मानिए मेरा रहा फिर भी/रोज बतियाते हैं मुझसे तलत महमूद।” यह वह गीत है, जो एक बार रचने में धंसी, फिर निकली नहीं उग्र भर। सुकून और दर्द का मेल व्यक्ति को कविता की ओर ले जाता है। ‘चुप्पी के शब्द सी’ इंदौर के सुकवि रामविलास शर्मा की स्मृतियों को सहलाती है। यहीं कहीं से प्रेम के बीज अंकुरित होते हैं। आज्ञाकारी शब्द अभिव्यक्ति के लिए आतुर रहते हैं सदा-सदैव। ये मासूम कविताएं कविता की मृत्यु की घोषणाओं को मुंह चिढ़ाती हैं। दरअसल कविता मनुष्य के मनुष्य होने का सबूत है।

जहां-जहां कवि पर उसका अलौकिक रूप हावी हुआ है, वहां-वहां कविता अधिक बोझिल और बौद्धिक हो गई है, यथा, “दीवारें सुन रही हैं कविताएं पुनः पुनः/देख रही हैं उसके कवि को अनिमेष।” ये निर्णायक पंक्तियां अधिक सार्थक संकेत दे सकती थीं, यदि दीवारों की अपेक्षा कोई जीवित प्रमाण प्रस्तुत किया जाता। ‘घिसते हुए भी’ चाकरी में तिल-तिल होम होते चाकर की पीड़ा है, यह चाकर कोई भी हो सकता है, स्वयं कवि भी हो सकता है, किंतु भाषायी चमत्कार की जिद में संवेदना की ड्योढ़ी तक पहुंचने से पहले ही एक थकान पसर जाती है, यथा, “मंद अपघटित होते पशु कीटों-सी देह में/कि वे घोंसले तो नहीं हैं चूहों के।” असावधानी या चूक कहें कि चूहों के घोंसले नहीं होते, बिल होते हैं। इसे मैं अज्ञानता नहीं कहूंगा, किंतु अनुभवों के अतिशय दबावों के तहत एक अक्षम्य चूक। ‘एक बूढ़े का जन्मदिन’ में आंतरिक बेचैनी, अभाव, अनिश्चितता का बयान कब कविता हो जाता है, कब नहीं, इसका फैसला



कवि नहीं, पाठक करेगा, आलोचक तो झूठ बोलने का जैसे आदी हो गया हो। डॉ. रामविलास शर्मा ने “भारतीय नवजागरण और यूरोप” पुस्तक में एक जगह लिखा है :

“मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का बोध स्मृति के सहारे होता है। यदि वह मानव-जीवन की मुख्य घटनाएं भूल जाए, अपने महत्त्वपूर्ण अनुभव भूल जाए, परिवार और समाज के लोगों से अपने संबंध भूल जाए तो उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जाएगा। वह परिवार और समाज के प्रति अपना दायित्व निबाहने योग्य न रह जाएगा।”

ओम भारती इस दृष्टि से स्मृतियों का न केवल सार्थक उपयोग करते हैं, अपितु पाठक के लिए संवेदनाओं को सांझा भी करते हैं। सिंहावलोकन जरूरी है आत्मालोचन के लिए, मूल्यांकन के लिए, उपलब्धियों के लिए, हार के लिए, जीत के लिए और अगला कदम कहां पड़ेगा, कैसे पड़ेगा, इसके लिए हम अगर अतीत में झांकते हुए भावविगलित हो जाएं और भूल जाएं कि जिन माता-पिता के दुलार और सुरक्षा ने रास्तों को कंटकहीन बनाया, जीवन में अर्थ

भरा, वे हमेशा तो नहीं रहते और आज वे स्मृतियां कवि को भावुक ही नहीं, विचलित भी कर रही हैं, तो शायद वह यह भूल जाता है कि यह सब करके वह आज अपने बच्चों की अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतर पा रहा, जैसे उसके पिता उसकी अपेक्षाओं पर खरे उतरे थे।

मेरे एक मित्र आजादी के पचास वर्ष बाद अपने गांव (पाकिस्तान को) गए, उन्हें खुशी हुई कि उनका घर सलामत था, वे स्मृतियों में डूब गए, पर दुखी इस बात को लेकर हुए कि गली के नुककड़ पर जो शिवाला था, वह अब नहीं था। मैंने उसे बाबरी मस्जिद की याद दिलाई, अगर यहां से गया कोई बाशिंदा लौटकर आए तो उसे कैसा लगेगा? जरूरी है तथ्यानुसार अपनी स्मृतियों में वांछित अनुकूलता लाना, वहां सांप-बिच्छू, घोघे, सीपियां और मोती हैं, आप उसमें से क्या-क्या चुनकर लाना पसंद करेंगे। आपका यही फैसला आपको

परिवार और समाज के प्रति अपना दायित्व निबाहने के योग्य बनाएगा और कविता के लिए अनुकूल भी।

चौंसठ कविताओं के इस संग्रह में अधिकांश कविताएं पाठकों को रमने का आमंत्रण देती हैं, वे उसके ठहरे बिंबों से विभोर भी होते हैं। किसी भी संग्रह में अनायास ऐसी कविताएं भी पसर जाती हैं, जो श्रेष्ठ कविताओं पर भी ग्रहण लगा देती हैं। यह असावधानी से कम, मोह के कारण आदर होता है, ओम भारती को इस मोह से मुक्त होना होगा, बावजूद इस सबके वह अपनी श्रेष्ठ कविताओं के कारण चर्चा में रहेगा, यह एक सुखद बात है।

अब भी अशेष/ओम भारती/किताबघर प्रकाशन, 4855-6/4, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 175

संपर्क : जे/363, सरिता विहार, मथुरा रोड, नई दिल्ली-110076, मो. 9871638634

# सलीके वाला कवि और तमीज वाली कविता

श्रीरंग

**क**

वि रघुवंशमणि समकालीन हिंदी कविता के एक परिचित कवि हैं। उनकी कविताएं लघु पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। इधर व्यवस्थित रूप से उनकी कविताओं का संग्रह 'हरा केंद्रीय रंग नहीं है' प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह की न केवल प्रस्तुति और सज्जा आकर्षक है, इनमें संग्रहीत कविताएं भी विविध रंग-रूप की हैं। इस संग्रह में कुल अड़सठ कविताएं हैं और हर कविता का अपना अलग कंट्रास्ट है।

इस संग्रह की कविताओं को पढ़कर लगता है कि कवि बहुत सहज और सरल जनभाषा का कवि है। वह अपनी कविता में चमत्कार पैदा करने के लिए किसी आलंकारिक भाषा-शैली का प्रयोग नहीं करता, बल्कि साधारण बोलचाल की भाषा से ही अपने विचारों और अपनी संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में सफलता अर्जित कर लेता है। भाषा और विषय की सरलता उसकी सपाटता में ही अभिव्यक्त हो जाती है। कवि की यह तकनीकी पाठक की संवेदना को जगाने में भी कामयाब दिखती है।

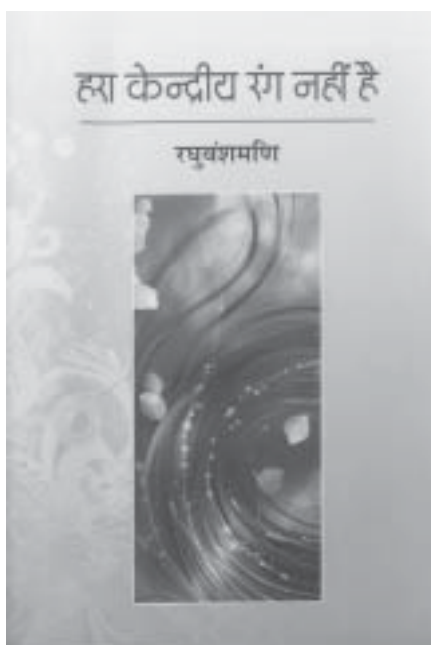
मनुष्यता पर कवि का विशेष और गंभीर शोध है, वह इसके कारण और इसकी स्थापना के सूत्रों को रेखांकित करता है। रघुवंशमणि की प्रकृति शांत है, इसलिए वे कभी भी बहुत जल्दबाजी में नहीं दिखते, वे तत्काल उठापटक की बात नहीं करते, बल्कि गंभीर और वैचारिक विद्रोह की ओर बढ़ने का संकेत चिह्न लगाते चलते हैं, ताकि अनुसरण करने वाला भी सुगमता से सही दिशा में बह सके। परिवर्तन और बेहतरी के लिए वे कविता के योगदान या कविता की जरूरत को बेहद जरूरी मानते हैं, फिर भी कविता में इसके लिए कोई नारेबाजी नहीं करते, न ही कविता को सिंबल

या नारा बनाते हैं। वे किसी के इशारे पर कविता नहीं लिखते, बल्कि कविता से स्वयं दूसरों को इशारा देते हैं। वे अपनी कविता को गढ़ने का औजार अपने आसपास की चीजों से ही तैयार करते हैं, कभी-कभी यह उन्हें किसी घटना या परिस्थिति से भी मिल जाता है। यह बड़ी बात है कि वे कभी आयातित औजार का प्रयोग नहीं करते, समय, समाज और परिवेश ही उन्हें सारे साधन मुहैया कराता है। यहीं से वे अपना लेते भी हैं, देते भी हैं। 'हरा केंद्रीय रंग नहीं है' की कविताएं इसे साबित करती हैं।

रघुवंशमणि की कविताओं के कई-कई आधार हैं, वहां परंपराओं की प्राचीनता की जड़ें भी हैं और वैज्ञानिक आधुनिकता की नवीनता भी। नवीनता भी ऐसी कि कोमल बरगद की कोंपल सरीखी। इन कविताओं में व्यापक अर्थबोध है और गहन भावबोध भी। रचना की जमीन ठोस भी है और उर्वर भी। इन कविताओं

की आंतरिक मुखरता देखते बनती है। वे बहुत सधे ढंग से कविता करते हैं। उनकी कविताओं में उनकी बेचैनी, छटपटाहट और भीतर की उष्मा देखी जा सकती है। इन कविताओं में उनका जुझारूपन, उनकी बेखोफ अदायगी साफ तौर पर देखी जा सकती है। यद्यपि वे राजनीति में कम ही दखल देते हैं, किंतु जब वे उसमें प्रवेश करते हैं तो कई-कई चेहरे बेनकाब करते चलते हैं। 'धार का सौंदर्य' एक ऐसी ही कविता है। इसमें चाकू की धार, गोली की गोलाई, रिवाल्वर, उसकी मूठ और नली और खटके, मशीनगन, बमवर्षक, मिसाइल, सभी की घातकता, विध्वंस की क्षमता, आक्रामकता और घातक सौंदर्य के सहारे वे सीधे राष्ट्राध्यक्षों के चमकते चेहरों पर ध्यान आकर्षित करके उनकी असलियत की ओर इशारा करते हैं। इस तरह फासीवादी ताकतों की करतूतों के खिलाफ एक जनपक्षधर मोर्चा खोलते हैं—धार का सौंदर्य है यह चाकू/प्रकाश फेंकता/चमकती मूठ वाला/दर्शनीय है इसके ब्लेड की वक्रता.../गोली...रिवाल्वर...मशीनगन.../तोप...बमवर्षक...मिसाइल.../कितनी सफाई से उठती है/बहुत स्मार्ट है इसकी ऊंचाई.../आइए अब हम/विचार करें/राष्ट्राध्यक्षों के चमकते चेहरों पर। (धार का सौंदर्य)

धार का सौंदर्य जैसी कुछ कविताओं को छोड़ दें तो लगता है रघुवंशमणि का कवि-मन मूलतः प्रेम, वात्सल्य, जीवन, प्रकृति और अपने आसपास की जैविक जिजीविषा में कहीं अधिक रमता है। इतिहास और मनोविज्ञान को वे बखूबी समझते हैं और जीवन से उसके संबंधों के आधार पर रचनात्मक टकराहट पैदा करते हैं। जीवन के यथार्थ की इसी टकराहट की चिंगारी से उनकी कविता उपजती है—सबसे पहले/मैं नंगा था/मेरे लिए भेड़ को बाल/बाद में खोने पड़े। (सबसे पहले)





रघुवंशमणि जीवन और कविता में अधिक जोर अपने अनुभव पर देते हैं, अपने निजी अनुभवों पर, यह वह अनुभव है, जो उन्हें जीवन-संघर्ष से मिलता है, जो देशकाल और समाज से अलग नहीं होता, बल्कि उसके बीच होता है। उनकी कविताओं से लगता है कि उनकी दृष्टि का विस्तार या कहें कि रेंज बहुत ज्यादा भी है और व्यापक भी, इसीलिए वे जीवन और उसके यथार्थ और उसकी विडंबनाओं और त्रासदियों को कायदे से पकड़ पाते हैं और वह सब कविता में ढाल पाते हैं, वह जनपक्ष में खड़े होकर जनपक्ष की भाषा में जनपक्ष को अधिक मजबूती से खड़ा होने को उत्प्रेरित करने का प्रयास कर लेते हैं। यही जनपक्षधरता उनकी कविता के लिए जो विषय खोजने होते हैं, जनता के बीच के उसके अपने होते हैं। वे चाहे 'कंक्रीट' में 'गुलाब' हों, 'नया घर' या फिर 'कुदाल'। बुकफ्रेम से लेकर कटे खेत में नील गाय, पेड़, वसंत, सोने का सुग्गा, एक पुस्तक, तितलियां, पर्वत, गुब्बारा, भौरा, धुआं और जीवन के विविध रंग तक। ऐसा नहीं है कि इस जनपक्षधरता में अपना निजी भी विस्मृत नहीं करते। उनकी कविता में मां भी है और पिता भी। वे कई-कई चेहरे वाले फन नहीं हैं और अपना केवल एक चेहरा चाहते हैं। वे न केवल बीता हुआ समय देखते हैं, पूरी तरह सारे दुखों के पार भी देखते हैं। पत्थर और नदियां कविता और कविता के बाद का सच।

रंग तो उनकी कविताओं में बार-बार आता है। हरा रंग कवि को बहुत प्रिय है, वह चाहे पुनर्जन्म का हरापन हो या वसंत का रंग। रंग प्रसंग में वे शुद्ध रंग और ईजाद हुए नए-नए रंगों पर विस्तार से सोचते हैं। यह बात उन्हें बहुत सालती है कि 'हरा केंद्रीय रंग नहीं है'। वे धूप का रंग देखते हैं, चेहरों पर पड़ता धूप का रंग, पहाड़ पर पड़ता धूप का रंग, फोटो में आता धूप का रंग सचमुच अद्भुत है यह देखना। फिर धूप में के हरेपन का कहना ही क्या, लेकिन हरे रंग का हाशिए पर होना उन्हें विचलित कर देता है—

वसंत के मौसम में भी/हरा केंद्रीय रंग नहीं है.../दुनिया का केंद्रीय रंग कौन-सा है? (हरा केंद्रीय रंग नहीं है)

रघुवंशमणि अपने आसपास से ही कविता उठा लेते हैं, चाहे वह कुदाल हो, बुकफ्रेम हो,

फिर स्कूटर चलाती हुई लड़की। वे दुनिया की सबसे बद्सूरत, दबी-कुचली लड़की की भी कल्पना करते हैं और उसमें भी प्रेम की। प्रेम स्वाभिमान खोती सुंदर लड़की होती है और प्रेम के लिए प्रस्तुत वह बद्सूरत लड़की भी। यहां वे बिना किसी स्त्री-विमर्श के नारेबाजी के ही स्त्री-मन की गांठ खोलते हैं। सबसे मिलने के बाद पेड़ से लिपटकर रोने वाली लड़की के मनोविज्ञान को पकड़ पाना किसी साधारण कवि की दृष्टि से बाहर की चीज है या फिर फोन पर किसी अजनबी की आवाज से असहज स्त्री, जो आवाज के पहचाने जाने से भी डरती है, जिसका अपना कोई परिचय नहीं है। पुत्र की मां या पति की पत्नी से अलग वह नाम पूछने पर असहज हो जाती है। वे डॉक्टर कुटी के प्रति भी आभार और कृतज्ञता प्रकट करना नहीं भूलते, जिसने उन्हें पैदा करवाया—अपनी शक भर/उसने मेरा मनुष्य होना सुनिश्चित किया/एक अच्छा मनुष्य होना/बाकी जो गड़बड़ियां हुई मुझसे हुई। (कुटी डाक्टर)

रघुवंशमणि का कहन अनूठा है तो विषय अच्छे। जिज्ञासाएं ऐसी कि शांत भी नहीं होतीं और बढ़ती ही जाती हैं। जब वे कहते हैं "कि किसने बताया था सबसे पहले कि दाल में नमक डालने से उसका स्वाद बढ़ जाता है या कि किसने किया आविष्कार हल्दी का।" वे बहुत ही तुच्छ और छोटी समझे जाने वाली बातों को भी बड़ी बात की तरह प्रस्तुत करके लगभग चौंका देते हैं। यही तो है उनकी नई तकनीकी। अब देखिए यदि किसी को पुराने अध्यापक मिल जाएं और शिष्य की नौकरी-चाकरी, धन-दौलत या उसकी सफलता के आगे खुद सकुचाएं और मिलाने के लिए हाथ बढ़ाएं तो किसी की क्या स्थिति होती होगी। यह समझा है उन्होंने। इसी तरह ईमानदारी को कमजोर न पड़ने देने की जिद, स्वतंत्रता को दिन-प्रतिदिन में शामिल करने की मुहिम, बीते हुए समय से सीख लेकर वर्तमान और भविष्य के प्रति सचेत करना उनकी विशेषता है। यह कैसे होगा, ये वे बताते हैं। जैसे कि जिंदगी को संवारने के लिए पुस्तक की बड़ी भूमिका हो सकती है। वे बताते हैं कि पुस्तक के सहारे जिंदगी गुजारी जा सकती है। वर्तमान में किस चीज का कैसा प्रयोग संभव है, वे सब करते हैं और

क्या नहीं हो सकता, वे जानते हैं, जैसे 'पत्थरों को मोड़ नहीं सकते धातुओं की तरह'। वे अपनी ताकत और सीमा को भी जानते हैं, यथार्थ को भी जानते हैं, चाहे सही, चाहे गलत। वे कविता की हृदय जानते हैं—मैं समझता हूं शायद/और वह था गलत/कि सारे पापों का प्रायश्चित्त/होंगी कविताएं/कविताओं के बाद भी/बचा रहेगा वह सब/जिसे करना बाकी होगा/मुक्ति के लिए। (कविताओं के बाद)

इस तरह बिना किसी घोषणाबाजी के रघुवंशमणि मुक्ति के संघर्ष को दिशा देते हैं।

रघुवंशमणि के इस कविता-संग्रह में स्त्री जीवन के विविध रूपों और पक्षों का दर्शन होता है। वह चाहे ऊन बुनती स्त्रियां हों, स्कूटर चलाती लड़कियां, सबसे शोषित औरतें या फिर सबसे मिलने के बाद पेड़ से लिपटकर रोने वाली औरत। वे औरत के उस हाल को भी रेखांकित कर पाते हैं, जब किसी अजनबी के फोन आने पर रांग नंबर पर एक ओर इतना सकुचाती है कि कहीं वह बोले तो उसकी आवाज पहचान न ली जाए। अपना नाम बताने में सकुचाती है। आखिर क्या नाम है उसका, किसी ने अब तक नहीं पूछा। वह तो बस पत्नी है किसी की या मां है किसी की। वह कैसे बताए कि वह किसकी पत्नी या मां बोल रही है। एक छोटी-सी घटना से वे बिना स्त्री-विमर्श के नारे के स्त्री अस्मिता और उसकी पहचान के सवाल को उठाते हैं, यहां तक कि वे डाक्टर कुटी को भी अपनी कविता का विषय बनाते हैं, जो अब तक अविवाहित रहकर केवल सेवा में लगी-लगी बूढ़ी हो चुकी है, हजारों बच्चों को जीवन दे चुकी है। नारी के अनेक रूप उनकी कविताओं में सामने आते हैं और संवेदना जगाते हैं। वे केवल कविता के लिए स्त्री पर कविता फैशन के तहत नहीं लिखते, बल्कि उनके प्रति वास्तविक अनुभूति को दर्ज करते हैं।

इस संग्रह में रघुवंशमणि की अनेक ऐसी कविताएं देखने को मिलीं, जो इधर लिखी जा रही कविता की चलताऊ परंपरा से काफी भिन्न हैं। प्रकाश, भविष्य के स्वप्न, इच्छाओं का गीत, एक उम्र के बाद, प्रेम राह, सबसे मिलने के बाद, एक साधारण मौत पर, अंत में, स्वतंत्रता, आघात, नींद, शीर्षक, पुनर्जन्म, शाश्वतता, अनास्था, सवाल, कुछ

ऐसी कविताएं, जिनकी गूंज और अनुगूंज बहुत देर तक रहती है, जिनमें अलग तरह के स्थायित्व का आभास होता है—कहीं न कहीं से/घूम आता है धुआं/ बिना हाथ-पैर के... /इस सार्वजनिक धुएं से/कब तक बचाया जा सकेगा व्यक्तिगत/ यह धुआं कहां से उठता है। (धुआं)

रघुवंशमणि का ध्यान उन चीजों पर भी जाता है, जो अक्सर अनदेखी का शिकार हो जाती हैं, लेकिन जब रघुवंशमणि उसे अपनी कविता में लाते हैं, तब वही कमतर और निरर्थक चीजें बहुत मूल्यवान बन जाती हैं, आम आदमी के संघर्ष का प्रतीक। पाठक उसे अपने सच की तरह लेता है, उससे प्रेरित होने की कोशिश करता है। यहीं कवि जन के बीच पहुंचता है। इसी तरह खाली पड़े मकान में उगे घास-फूस, झाड़ू-फानूस, गंदगी उनकी साफ-सफाई, रंग-रोगन का बड़ा मौलिक चित्रण 'आगमन' कविता में वे करते हैं, लेकिन सारी साफ-सफाई और रंगाई-पुताई के बाद भी उस घर में रहे पहले व्यक्ति की या परिवार अहसास उसे पाता नहीं महसूस होता। दूसरे का घर, खाली पड़े घर में दूसरे के घर होने का अहसास। ऐसी ही दूसरी कविता है 'भविष्य के स्वप्न'

जिसमें पिता चाहते हैं कि बेटा वह सब करे, जिससे वह समाज में बड़ा आदमी बन जाए और बड़ा कहलाए, कुछ भी करके, रिश्वत लेके या कुछ और करके, वह किसी भी तरह अपने बच्चों को बड़े आदमी में तब्दील होते देखना चाहता है, किसी भी कीमत पर और यह सब चाहते हुए उसकी आंखों में विषपान का नीलापन उतर आता है। पीड़ा, असंतोष और गुस्से की यह स्थिति कितनी भयावह है। पिता की पीड़ा की यह अभिव्यक्ति अपमानित होते, जलील होते, ठोकरें खाते हर उस बाप की पीड़ा है, जो सब कुछ झेल रहा है, क्योंकि वह आदमी नहीं है, इसलिए वह अपने बच्चों को सफल और बड़े आदमी में बदलना चाहता है। पुराने अध्यापक वाली कक्षा में, रेलवे स्टेशन वाली कविता में, इन बिंदुओं को देखा जा सकता है। इस तरह अपने आसपास की चीजों में कविता की तलाश करने वाला यह कवि बेहद ईमानदार है और अपना यही एक चेहरा रखना भी चाहता है—मैं अपना एक चेहरा/चाहता हूं कविता में/एक सुंदर कवि मुख/जिसे देखकर कहें सब/कवि-कवि। (मैं अपना एक चेहरा चाहता हूँ)

रघुवंशमणि में बहुत ऊर्जा और उत्साह

है, उन्हें कविता का सलीका भी आता है और कविता करने की उनमें तमीज भी है। छोटी-बड़ी बातों को लेकर वे कविता का मजबूत ताना-बाना बनाते हैं। कुछ हटकर करने की तड़प, छटपटाहट और जज्बा उन्हें अपने समय के कवियों से कुछ अलग करता है। यह कवि कवि मंजिल तक पहुंचेगा, उम्मीद की जानी चाहिए।

प्रख्यात जर्मन फिल्मकार गोदार कहते हैं कि आप आज किस कोण से फोटो खींचते हैं, यह भी एक राजनीतिक निर्णय है। हर कवि को अपना कोण तय करना ही पड़ता है, उसी कोण को देखकर आप कवि का पक्ष जान सकते हैं। यह पक्ष ही कविता में अधिक चमकदार बनाता है। कवि रघुवंशमणि का पक्ष और उनकी कविताओं में जनपक्षधरता की चमक देखी जा सकती है।

हरा केंद्रीय रंग नहीं है/रघुवंश मणि/ यश पब्लिकेशंस, X/909, चांद मोहल्ला, गांधी नगर, दिल्ली-110031/ मूल्य : ` 195

128एम/1आर, कुशवाहा मार्केट, भोला का पूरा, प्रीतम नगर, इलाहाबाद, मो. 9335133894

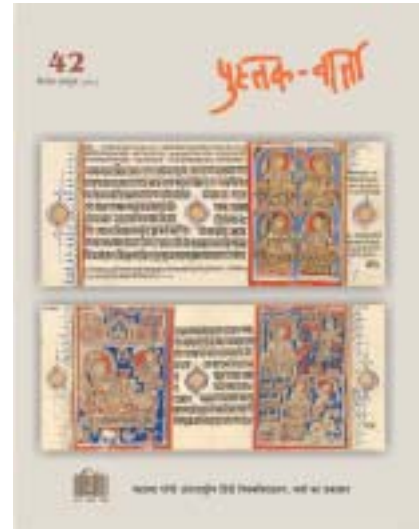
## महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकाओं के नए अंक



जुलाई-सितंबर 2012, मूल्य : ` 100



अक्टूबर-दिसंबर 2012 35, मूल्य : ` 50



सितंबर-अक्टूबर 2012, मूल्य : ` 20



ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,  
पो. गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), फोन : 07152-232943

पत्रिका की सदस्यता के लिए संपर्क करें :

# कविता के भीतर कविता

रेनू सिंह

## हा

ल के दिनों में आया ममता किरण का पहला काव्य-संग्रह 'वृक्ष था हरा-भरा' उनकी साहित्यिक ऊर्जा और संवेदना की सशक्त अभिव्यक्ति है। इस कविता-संग्रह का फलक बहुत व्यापक है और विविध भी। कवयित्री ने जीवन में, समाज में जो देखा, महसूस किया, उसे अपने अनुभवों में पिरोकर बिना किसी लाग-लपेट के अभिव्यक्त कर दिया है।

कहीं सहज प्रेम संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है, तो कहीं समाज की विद्रूपताओं पर करारा व्यंग्य। भारतीय मूल्य परंपरा घर-परिवार, समाज और उनके संबंध घूम-फिरकर बार-बार उनकी कविता का विषय बनते हैं। जीवन की सारी आपा-धापी में कहीं कुछ सुरक्षित कर लेना चाहती है तो वह है मानवीयता, संवेदनशीलता और भावुकता।

भाषा आमजन की बोली है। अनामिका के शब्दों में कहें तो पीढ़ियों का संवाद इन कविताओं का एक रोचक पक्ष है। उनकी पहली कविता ही 'स्त्री और नदी' में स्त्री का विराट व्यक्तित्व है। प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण करके स्त्री निरंतर अग्रगामी होती है, नदी का नैरंतर्य स्त्री को जीवंत बनने की प्रेरणा है— 'जब—स्त्री मांगती है नदी से/अनवरत चलने का गुण/पार करना चाहती है/तमाम बाधाओं को/पहुंचना चाहती है/अपने गंतव्य तक/और.../अपने लिए मांगती है.../सिर्फ नदी होना।'

ममता किरण की कविता 'स्मृतियां' वास्तव में पाठकों को अतीत की सुनहरी स्मृतियों में खो जाने को विवश करती है। साथ ही समय की तेज गति के साथ परिवर्तित हो रहे जीवन-मूल्य, संयुक्त परिवार की टूटन, बिखराव एवं अलगाव, तेजी से एकक परिवार

की मूर्त होती अवधारणा, महानगरों में बच्चों की परवरिश के लिए लाभांश कमाने वाले क्रेच (शिशु सदन) जैसी नसरियों पर विराम लगाने का भी सुझाव देती है। कवयित्री ने मां की स्मृतियों एवं स्वयं की स्मृतियों के माध्यम से परंपरागत भारतीय परिवार एवं आधुनिक परिवार के मध्य जो रिक्तता एवं सूनापन है, पीढ़ीगत विचारों, संवेदनाओं में भाव संप्रेषणीयता में जो अंतर है, उससे समाज को रू-ब-रू कराने का प्रयास किया है।

समाज की गुम होती संवेदनशीलता पर गहरा प्रहार है। ममता की 'चोट' कविता जहां एक तरफ तो अपने लिए अलग सिद्धांत और अपने अपनों के लिए दूसरा, किंतु दूसरी ओर आशा की एक किरण है, वह है आदमी का अपना मन, जो उसे इस दुहरेपन से न केवल बचाता है, बल्कि सही-गलत का विवेक भी देता है। जब वे कहती हैं—'कम से कम मैं/अपने मन से तो संतुष्ट हूं/कि भरी सड़क

पर/उसके साथ होती बदसलूकी देख/मैं मूकदर्शक बनकर तो नहीं खड़ा रहा।'

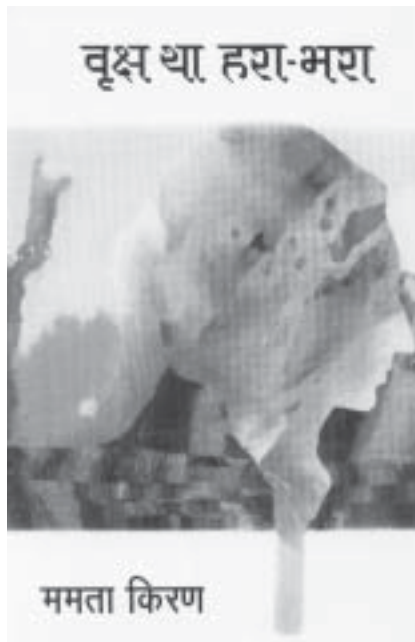
ममता किरण की कविता 'थाप' परंपरागत भारतीय समाज के रूढ़िवादी विचारों एवं संकीर्ण मानसिकता को अंधेरे से आलोक में लाने का प्रयास करती है। आधुनिकीकरण एवं संचार क्रांति के इस दौर में परंपरागत रूढ़िवादी विचारों एवं संकीर्ण मान्यताओं से हमारा मोहभंग नहीं हुआ है। ढोलक की 'थाप' की अनुगूंज सुनाई भी पड़ती है, तब जब वह घर से ससुराल के लिए विदा होती है। 'थाप' आधुनिक शिक्षित समाज को आईना दिखाने का काम करती है, जो बेटियों के साथ भेद-भाव करते हैं।

कवयित्री की सूक्ष्म जीवन दृष्टि या सहज स्त्री संवेदना का सशक्त रूप यह है कि वह निर्जीव वस्तुओं से भी सघन भावनात्मक संबंध जोड़ लेती हैं, उनकी पीड़ा उपेक्षा और बदलते परिवेश के प्रभावों को अभिव्यक्त करने का उदाहरण चुनती है—

'यू तो इस बात से खुश है/परातें, भगौने, कड़ाही कलखुल चमचे/कि हो गया छोटे भैया कि बिटिया का ब्याह/पर अफसोस इस बात का है/कि न तो घर में हुई रौनक...न जमा हुए रिश्तेदार.../न ही उन्हें मौका मिला/ब्याह में शामिल होने का।'

वे भूमंडलीकरण से उत्पन्न चुनौतियों एवं उसके सांस्कृतिक प्रभावों से परिचित भी हैं। अपनी 'पुरस्कार' कविता में वे पुरस्कारों की राजनीति पर न केवल करारी चोट करती है, बल्कि उसके कर्तव्यबोध-दायित्वबोध की अनुभूति और उससे उत्पन्न सार्थकता और निरर्थकता को अधिक तर्कसंगत ढंग से अभिव्यक्त करती है यह कविता—

'इस हाल में/उनके लिए मेरे क्या मायने



हैं/कितना कुछ बदलेगा उनका जीवन/पता नहीं/लगता है डर/कही...में दीवार पर टंगे-टंगे/उपेक्षित ही न हो जाऊं।’

कवयित्री की ‘अखबार’ कविता पढ़ते-पढ़ते अचानक ही जेहन में निराला की कुकुरमुत्ता स्मरण हो आती है कि कैसे वह गरीबों के लिए उनके अनेक साधनों का पर्याय बन जाता है। सभ्य लोगों के दोहरेपन पर करार व्यंग्य है। उनकी ‘सभ्य लोग’ और ‘पर्दा’ कविता में वे बेबाक कहने से नहीं चूकतीं—‘ये मूल्यवान लोग/हमारी पूरी शासन-व्यवस्था पर/कहीं न कहीं तैनात हैं/निकम्पेपन की चादर में लिपटे/इन लोगों ने/एक रंगीन पन्नी का मुल्लमा/अपने ऊपर चढ़ा लिया है/जिससे पता लगता है कितने सभ्य और/सुसंस्कृत हैं ये लोग...।

विडंबना, स्टेस, समीकरण, ब्रेक आदि कविताएं कवयित्री की सजग राजनीतिक चेतना से ओतप्रोत हैं।

कवयित्री के संवेदनात्मक धरातल के विस्तार को उसकी ‘पुनर्निर्माण’ कविता में देखा जा सकता है। जहां वह युद्ध की विभीषिका के दुष्परिणामों से न केवल अवगत कराती है, वरन उसकी अपूरणीय क्षति पर एक प्रश्नचिह्न भी उठाती है—‘एक प्रश्न कौंधता है/मेरे मन में/क्या लौट सकती है/इनमें बहारें/या फिर/क्या हो सकता है/इनका पुनर्निर्माण।’

क्या उत्तर है हमारे पास इनके प्रश्न का?

मौन की संप्रेषणीयता की अभिव्यक्ति है भाषा, जब वह कहती है—

और तब

कृतज्ञता में व्यक्त होती है

सिर्फ और सिर्फ

मौन की भाषा।

एक स्त्री और पुरुष के संसार के फर्क का बहुत मर्मांतक अंतर प्रस्तुत करती है ‘फर्क’ कविता, जिसमें सब कुछ है, सिर्फ मैं ही नहीं। भ्रूमंडलीकरण की आंधी से तेजी से बदलते वातावरण में घर-परिवार के संबंधों में भी जो परिवर्तन आया है, उसी का रेखांकन है ‘इंतजार’ कविता, जो कहीं-न-कहीं हमारा ध्यान बचपन में ले जाती है, जहां रविवार का मतलब कुछ अलग होता था, आज कुछ अलग—पूरा हफ्ता करती हूँ इंतजार/रविवार का/कि रोज का सन्नाटा टूटेगा/रविवार

को/बेटा-बहू साथ बैठेंगे/पोती उछल-कूद करेगी/खरगोश की तरह/पर ‘इंतजार’/इंतजार ही रह जाता है।

कवयित्री की चिंता शब्द भाषा जैसे गंभीर सांस्कृतिक मुद्दों पर भी उभरकर सामने आती है।

पुस्तक का शीर्षक ‘वृक्ष था हरा-भरा’ अपने में समेटे हुए है भरे-पूरे घर का अस्तित्व, जहां सभी को उससे कुछ-न-कुछ मिलता है और सब धीरे-धीरे अपने में व्यस्त हो जाते हैं, पर अपने में इतना खो जाते हैं कि उन्हें यह भी याद नहीं रहता कि देने वाला अब चुक रहा है। अब तो बस वह सबको अपने आगोश में एक साथ देखना चाहता है।

एक तरफ ‘उसूल’ कविता में वह उस मनुष्य की असफलता की बात करती है, जिसे ‘धारा के साथ बहना’ नहीं आता तो दूसरी ओर ‘टेक्नोलॉजी’ कविता में तकनीकी एवं सूचना क्रांति के साथ आई उपभोक्तावादी संस्कृति के मनुष्य को मशीन में ढालने की चिंता भी दृष्टिगत है।

तो परिणति जीवन के उस सच से हमारा सामना करवाती है, जहां जीवन की सारी आपा-धापी हमें निरर्थक लगने लगती है।

‘जल’ होने की इच्छा उसकी द्रविता का प्रतीक है कि उसके हृदय में असीम स्नेह मानवता के प्रति संचरित हो रहा है।

‘दुनिया’ कविता इस अंतर की ओर भी हमारा ध्यान खींचती है, जहां मां-बाप की दुनिया हमेशा अपने बच्चों के आस-पास ही होती है, जबकि बच्चों की दुनिया इतनी बड़ी हो जाती है कि उनके अपने मां-बाप उसमें दूर-दूर तक नहीं होते हैं।

‘शिकायत’ बदलते परिवेश में प्रेम की अभिव्यक्ति के तौर-तरीके भी आज बदल गए हैं। ‘फरिश्ते’ और ‘कैद’ ये दोनों एक-दूसरे की विरोधाभासी कविताएं हैं, एक तरफ हमारे जीवन में वे लोग आते हैं, जिनके चले जाने पर पूरी कायनात में हम उन्हें ढूंढते फिरते हैं, दूसरी तरफ वे हैं, जिन्हें हम जीवन में बोज़ की तरह ढोते-ढोते थक जाते हैं और कहने के लिए विवश हो जाते हैं—

अब नहीं चला जाता/सिग्नल ग्रीन हो गया है/और मैं/ये परिधि तोड़कर जा रही हूँ/तुम्हारी यादों को समेटे/हमेशा-हमेशा के

लिए।

कहीं आत्मीय के बिछोह की असहनीय पीड़ा और उस अनंत की यात्रा का साहस, जिसे पूरी कर वहां पहुंचने की इच्छा, कवयित्री की अंतिम कविता ‘जन्म लूँ’ में कवयित्री ने विशद स्त्री संवेदनाओं की गहन व्यापक अभिव्यक्ति दी है, जो उसे मनुष्यता के उस पायदान पर ले जाती है, जहां पहुंचकर मानव सर्वोत्तम मानव बन जाता है। इस तरह ममता किरण का यह काव्य-संग्रह न केवल पठनीय, बल्कि संग्रहणीय भी है।

वृक्ष था हरा-भरा/ममता किरण/किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 150/

एसोसियट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, कपिलधारा मार्ग, अमरकंटक-484886 (म.प्र.)  
मो. 08718952664

## निवेदन

‘पुस्तक-वार्ता’ के समीक्षकों से मेरा निवेदन है कि पुस्तक की समीक्षा भेजते समय ठीक से पुस्तक का ब्यौरा दें यथा—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का पूरा पता, पुस्तक का मूल्य। मुझे प्राप्त समीक्षाओं को संपादित करने में कठिनाई होती है क्योंकि समीक्षक सावधानी नहीं बरतते। यदि भविष्य में समीक्षक मेरे इस विश्वास की रक्षा करेंगे तो मुझे सचमुच सहूलियत होगी।

—संपादक

# आलोचना और विचारधारा का द्वंद्व

परमानंद श्रीवास्तव

## ना

नामवर सिंह की नई कृति 'आलोचना और विचारधारा' की प्रस्तावना में संवादी आलोचक कहा गया है।

नामवर सिंह अगर दूसरी परंपरा के आलोचक हैं तो जाहिर है कि कोई पहली परंपरा भी है। एक खास बात यह है कि असहमति नामवरजी की प्रकृति है। 'उनकी आलोचना का लिखित शब्द मूलतः संवादी शब्द है। नामवर सिंह बगैर किसी प्रतिपक्ष के अपना सौंदर्यशास्त्र बना ही नहीं पाते। उनके आदर्श हैं—रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा। मुक्तिबोध और बाद के मलयज भी। नामवर सिंह का सर्वाधिक उत्तेजक क्रिटीक 'एक साहित्यिक की डायरी' है। यह इस साहित्यिक की डायरी पर पहला निबंध है। यह डायरी—संवादोन्मुख है। अपने से बातचीत, पर दूसरों से भी बातचीत। इसके पीछे सामाजिक प्रक्रिया है। यह है आलोचना की वाचिक परंपरा। मुक्तिबोध का क्लासिक है—'एक साहित्यिक की डायरी'।

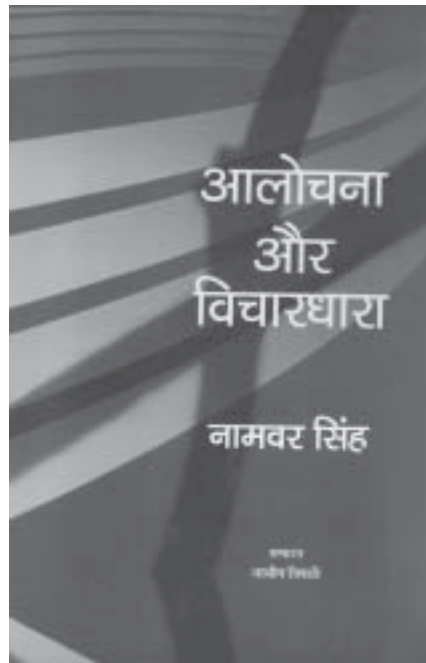
'वामपक्षी राजनीति आलोचना और विचारधारा' का बीज है। 'कविता के नए प्रतिमान' अमरीकी नई सीमक्षा से प्रेरित ग्रंथ है। नामवरजी को रूपवादी कहा गया है। मार्क्सवाद से अलग। वाद-विवाद-संवाद नामवर सिंह की प्रकृति है। स्थिर यहां कुछ नहीं है। आज कुछ, कल कुछ—यही आत्मसमीक्षा है। नामवर के निमित्त देश भर में चलने वाली व्याख्यान शृंखला है। आलोचना कोई एक परंपरा नहीं है, परंपराएं हैं, हिंदी उर्दू भी। सेकुलरिज्म केवल राजनीतिक विमर्श नहीं है। संघ-परिवार से एक निरंतर युद्ध। नामवर सिंह के शब्द हैं, 'साहित्य में मुख्यधारा जैसी कोई चीज नहीं होती, परंपराएं होती हैं। यह बहुलतावाद भी नहीं है। उर्दू परंपरा कोई

राजनीतिक पूर्वग्रह नहीं है : निदा फ़ाजली का यह शेर नामवरजी के बहुत काम आता है—सब मेरे चाहने वाले हैं मेरा कोई नहीं मैं भी इस देश में रहता हूँ उर्दू की तरह Ideology शब्द विचारधारा के अर्थ में 30-40 के दशक में चलन में आया। जर्मन आइडियालाजी ही विचारधारा है, जो मार्क्स का बीजमंत्र है। लोकभाषा का उत्कर्ष आलोचना का धर्म है। आलोचना का अपना एकांत है। परंपरा भी विचारधारा है, जो दृष्टि है। साहित्य भावबोध है, इंद्रियबोध है। आलोचना अनुभव की वस्तु है, आस्वाद की वस्तु है, मूल्यांकन विवेक है। नवजागरण या पुनर्जागरण—परंपरा अर्जित की जाती है। रामविलास निराला की परंपरा की बात करते हैं, तो तुलसी की परंपरा है—बड़ी परंपरा है, तो छोटी परंपरा भी है। सगुण तो निर्गुण भी—यहां धोबी, नाई, दलित, स्त्री, आदिवासी। अभी कथा के एक अंक में

मीराबाई को स्त्रीजागरण का विद्रोही कवि कहा गया है। स्थापना संपादक अनुज की है।

नामवर सिंह साहित्य का समाजशास्त्र की बात करते हैं, तो लूसिए गोल्डमान को प्रस्थान मानते हैं। रूपवाद से अलग समाजशास्त्र। 'द हिडेन गॉड' महत्त्वपूर्ण कृति है। गोल्डमान ने लूकाच के हवाले से क्रिटिकल रियलिज्म, सोशलिस्ट रियलिज्म का जिक्र किया है। कृतियों की अंगवस्तु को प्रस्थान मानना चाहिए। अंतुर्वस्तु से महत्त्वपूर्ण है, अंतुर्वस्तु के रूप का विश्लेषण। 'फार्म ऑफ द कंटेन' प्रयोजनीय अवधारणा है। विश्वदृष्टि और विचारधारा पर बल आलोचना की सैद्धांतिकी का आधार है। वर्गसंरचना मार्क्सवादियों का खास आधार है। त्रैजिक विजन। पास्कल, कांट, रासीन। साहित्य का एक वर्ग है, जो मर रहा है। लूकाच यथार्थवाद के पक्षधर थे, आधुनिकतावाद के विरोधी।

रेमंड विलियम्स सांस्कृतिक आलोचक हैं। वे 'द ग्रोथ ऑफ रीडिंग पब्लिक' की बात करते हैं, जो सामाजिक इतिहास का पूरक है। 'रिडक्शनलिज्म' के अपने खतरे हैं। 'ठोस' महत्त्वपूर्ण है सुपरस्ट्रक्चर नहीं। साहित्यिक कल्पना के बरक्स सामाजिक आलोचना। निर्मल वर्मा की थीसिस है—शताब्दी के ढलते वर्षों में। शीतयुद्ध की शुरुआत करने वाली विचारधारा है। निर्मल वर्मा संकट-काल में ताल्सताय, फ्लाबेयर, नीत्शे की बात करते हैं। प्रेमचंद की 'कफन' कहानी को ब्लासफेमी बताते हैं। भारतेंदु-युग की ऊर्जा को नहीं देखते। पंत की 'परिवर्तन' कविता को नहीं देखते। 'कामायनी' में श्रद्धा-इड़ा के द्वंद्व को नहीं देखते। हमारे यहां 1960 को प्रस्थान माना गया। साठोत्तरी कविता, साठोत्तरी कहानी। साही, कुंवरनारायण इस थीसिस के अग्रणी थे। रघुवीर सहाय कुंठा खो संत्रास की चर्चा



नहीं कर रहे थे। एक तरह से आजादी से मोहभंग की बात कर रहे थे। उत्तर आधुनिकता।

भारतेंदु कुछ **आपबीती** के साथ **‘जगबीती’** की बात कर रहे थे। फिराक—कुछ अपनी सुनाओ, कुछ जमाने को कहो। नामवर सिंह के लिए आलोचना शास्त्र नहीं है, बल्कि मूल्य निर्णय है। पाठ नहीं, सामाजिक पाठ आलोचना संवाद है तो अपने से। महत्वपूर्ण है—text के साथ context—भारतीय लोकतंत्र। नामवर सिंह वीरभारत तलवार की महत्वपूर्ण थीसिस **‘रस्साकशी’**। आलोचना के औजारों का परीक्षण करते हुए नामवर सिंह **अज्ञेय** की कविता **‘नाच’** का हवाला देते हैं। कविता क्या है समानांतर आलोचना। देखना ही Ide-ology है—मार्क्स की आइडियालॉजी। रस की अलग-अलग व्याख्याएं हैं। साधारणीकरण है। हमारे यहां भी स्त्रीवाद है। दलित विमर्श है।

आचार्य शुक्ल मानते थे—सभ्यता के विकास के साथ कवि-कर्म कठिन हो सकता है। जॉक दरीदा उत्तरसंरचनावादी आलोचक हैं। भाषा को तोड़कर नई भाषा। कूट भाषा। आलोचना का लोकतंत्र। आलोचना को साझा संवाद कहा गया। एफ. आर. लीविस का **‘द कामन पर्सूट’**। मूल्यांकन की प्रक्रिया में सहयोगी निर्णय। स्क्रूटिनी आलोचना की पत्रिका थी। **‘New Left Review’** भी महत्वपूर्ण पत्रिका है। परंपरा का मूल्यांकन। आलोचना निर्मम होती है। रेमंड विलियम्स अपने को लिटरेरी क्रिटिक नहीं कहते हैं। संवाद आलोचना का प्रमुख धर्म है। साहित्य को भीतर देखना और बात है—सांस्कृतिक आलोचक हैं—रेमंड विलियम्स।

आलोचना में केवल अभी का देखना नहीं है। परंपरा, इतिहास में देखना है। आज सिद्धांत-चर्चा क्षीण है। रेने बेलेक की किताब है, जहां मुख्य स्थापना है—**‘सिद्धांत चर्चा’**। कभी अज्ञेय ने कहा था—आलोचना है, आलोचना है, पर आलोक नहीं है। कृति का रहस्य ही आलोक है। रामचंद्र में आलोक है, अभिनव गुप्त में है। राममूर्ति त्रिपाठी के लिए स्वायत्तता। नई समीक्षा और क्या है—रूपवाद है।

आज काव्यभाषा का प्रयोग चलन में है, जब से शेली विज्ञान चर्चा में है काव्यात्मकता की खोज पर रवींद्रनाथ श्रीवास्तव का काम है। उन्होंने रोमन योकावसन से बहुत कुछ लिया

है। अलंकार शास्त्र और क्या है। चार्ट नक्शा बनकर आतंक पैदा किया जा रहा है। ओरियंटलिज्म एडवर्ड सैड का काम है। आउट ऑफ प्लेस सैड की आत्मकथा है। विस्थापन। माइग्रेशन। रामचंद्र शुक्ल की मान्यता है—जिसे स्वीकार करते हैं—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—इस्लाम का न भी घटित होता, तो भी इसी रास्ते आता। भारतीय चिंताधारा का यही संकेत है। स्त्रियां वेद नहीं पढ़ेंगी, शूद्र वेद नहीं पढ़ेंगे। लोक-शास्त्र का द्वंद्व विचारणीय है। नामवर सिंह के लिए आलोचना की दुनिया विचारों की दुनिया है। रामचंद्र शुक्ल पहले आलोचक हैं, जिन्होंने सूर, तुलसी पर लिखा, तो जायसी पर भी लिखा। घनानंद, बोधा, आलप ठाकुर। रामचंद्र शुक्ल ने रिचर्ड्स की किताब प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म पढ़ा था। विलियम रिचर्ड्स से अलग थे। रामविलासजी मुक्तिबोध में अस्तित्ववाद देखते हैं, जिसका प्रतिवाद करते नामवर सिंह ने एक पूरा निबंध लिखा है। आलोचना केवल सिद्धांत नहीं है। हमारे यहां मूल्यांकन है तो पुनर्मूल्यांकन है। स्त्रीवादी आलोचना अब केंद्र में है। अब फैंटेसी हिंदी आलोचना का केंद्रीय सूत्र है। मुक्तिबोध कला के तीन क्षण की बात करते हैं। उदयप्रकाश की कहानी है **‘पाल गोमरा का स्कूटर’**। **‘मेंगोसिल’**—पर फिल्म बन रही है। दरीदा आज केंद्रीय हैं और भृगुहरि के वाक्यपदीय के निकट हैं। साहित्य की आलोचना ही संस्कृति की आलोचना है। मुक्तिबोध सिद्धांतकारों से पूछते थे—**‘पार्टनर आपकी पॉलिटिक्स क्या है! कबीर पर द्विवेदी जी का काम अलग है। कबीर भक्त नहीं हैं—फक्कड़ हैं, अक्कड़ हैं। अभिनव गुप्त सहृदय हैं।’**

राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से दुर्लभ पोथियां ही नहीं ला रहे थे—कह रहे थे—भागो नहीं, दुनिया को बदलो। घर छोड़ना बड़ी बात है। घर छोड़ने वाले कम हैं—घर जोड़ने की माया से सब धिरे हैं। साहित्य का समाजशास्त्र आनंदवाद नहीं है। मध्यकालीन बोध से महत्वपूर्ण है, आधुनिक बोध। नवीन मानवतावाद। रचना प्रक्रिया की मौलिकता महत्वपूर्ण है। कबीर ने बड़ी कविता नहीं लिखी, पर घुमक्कड़ी में बड़ा अर्थ पाए। नारी से बड़ा प्रस्थान और नहीं है। मीरा, महादेवी। भट्टिनी को बचाना है, या महावराह की मूर्ति

को। स्वच्छंद प्रेम **‘अनामदास का पोथा’** तक अर्थवान है। रैक्व-जाबाला प्रेम। स्त्री पदार्थ है। द्विवेदी की नायिकाएं पतिता हैं। परनिडनिया बड़ी है। जाबाला और बड़ी है। जाबाला ने रैक्व से कहा—तुम बहुत बोलते हो, चुप नहीं रह सकते—मेरा गुणगान तो न करो। साहित्य के सिद्धांत साहित्य के बाहर हैं। यही है—**‘वाद-विवाद-संवाद’**। **‘नामवर के निमित्त’**। मेरा बखान तो न करो। जाबाला का संकोच भर नहीं है।

इस शृंखला की दूसरी कड़ी है—साहित्य की पहचान। मुख्य स्थापना है—साहित्य की कोई एक प्रतिनिधि पहचान नहीं है। पहचानें हैं। कई को नकारती एक पहचान। खिलंदड़ापन। हमें बनी-बनाई पहचान के बारे में नहीं बताना है। साहित्य की सभी पहचानें किसी संकल्पना का संकेत हैं। डी. एच. लारेंस की भी एक पहचान है। अनजाने भी कोई पहचान बनती है। मार्क्स की आइडियालॉजी है। संकल्पना है। यह शुद्ध साहित्यिक नहीं है। न्याय, नव्य न्याय दो अलग चीजें हैं। अखबारी सूचना भी कविता है। जैसे रघुवीर सहाय की कविता या धूमिल की कविता। एक पहचान सामंती समाज से बनती है, एक किसानी सभ्यता से। आज संकट का कारोबार है। वह खरीदा और बेचा जा रहा है। मध्यवर्ग ही उपभोक्ता है। कभी नक्सली यथार्थ पर फिल्में बनीं—जैसे फिल्म **‘धारावी’**, **‘अंकुर’**। आज उपभोक्तावाद भोगवाद है। **‘मंथन’** प्रतिवाद है। परिप्रेक्ष्य की अपनी पहचान है। निहिलिज्म कोई प्रतिनिधि पहचान नहीं है। **‘विनयपत्रिका’** का राजनीतिक क्रिटिक बन सकता है। स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति दो चीजें हैं। **‘एक साहित्यिक की डायरी’** (मुक्तिबोध) में फैंटेसी के स्वप्रकार। कला के तीन क्षेत्र।

आलोचना एक सहयोगी प्रयास है। समझौता नहीं, संवाद। नामवर सिंह के लिए शास्त्र में प्रसंगवश आलोचना होती है। साहित्य में वह क्रिटिकल आइडियालॉजी है। रसमीमांसा बड़ी आलोचक है। **‘हिंदी साहित्य में संवेदना का विकास’** (रामस्वरूप चतुर्वेदी) आलोचना नहीं है। **‘ट्रेडिशन’** है, महज आस्वाद नहीं है। मूल्यांकन है। न्यू लेफ्ट रिव्यू के संपादक पेरी एंडर्सन ने पुस्तक समीक्षाएं छापी हैं। वे रिव्यू से अधिक हैं। हम तीसरी दुनिया में हैं। उत्तर

आधुनिक। मुक्त अवधारणा। आलोचना का अपना लोकतंत्र है—स्त्रियां हैं, दलित हैं। पाठ की सामाजिकता। मुक्ति है तो बुद्धि की मुक्ति भी है, जो आलोचना है। आस्वाद आलोचना की सीमा नहीं है। मैथ्यू अर्नाल्ड बड़े आलोचक हैं। आलोचना पत्रकारिता नहीं है। आलोचना एक सांस्कृतिक कर्म है। विरोध विरोध के लिए, संवाद के लिए। यह असहमति भी है। शास्त्रलोक का अपना द्वंद्व है। विरोध की अपनी विचारधारा है। एक अंत युग की बहस है। इतिहास का अंत, परंपरा का अंत। विचारधारा का अंत। यह एक अर्थ में सुविधावाद है। शीतयुद्ध की बहस जार्ज अर्वेल (1986) के बहाने से बार-बार शुरू होती है। निहिलिज्म (नकारवाद) आलोचना नहीं है। रागात्मक संवेदना आलोचना की पहचान है। आलोचना की स्वदेशी परंपरा—किशोरीदास व्याकरण दर्शन आलोचना नहीं है।—एक साहित्यिक की डायरी सभ्यता-समीक्षा है। आलोचना आस्वाद सीमित नहीं है, वह मूल्य-निर्णय भी है, असंगतियां भी आलोचना हैं। गनीमत है—यहां सैनिक तानाशाही नहीं है। ऑक्टोवियो पॉज कहने के लिए स्वतंत्र हैं कि यह कविता है, यह कविता नहीं है। यथार्थ अमूर्त ही हो सकता है। काफ़का की डायरी संकेत है। अमूर्तन की अपनी शक्ति है। आलोचना स्थिर नहीं है। नामवर सिंह साहित्य को स्वायत्त नहीं मानते। वे सापेक्ष स्वायत्तता की बात करते हैं। कविता पढ़ते समय हृदय की मुक्तावस्था; आलोचना लिखते समय बुद्धि की मुक्तावस्था का अपना प्रयोजन है मेरे लिए, आलोचना एक स्वतंत्र अभिप्राय है। स्वराज्य का अपना बुद्धिवैभव है। भाषा विवेक से काव्यविवेक यही साहित्य की पहचान है। आलोचना 'रिव्यू' नहीं है। चिंतन, सैद्धांतिकी है, नामवर सिंह के लिए आलोचना राजनीतिक कर्म है। विचारधारा कोई घोषित कैटेगरी नहीं है। वह रचना में छिपी होनी चाहिए।

आलोचना और विचारधारा/नामवर सिंह/सं. आशीष त्रिपाठी/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : 450

बी-70, आवास विकास कॉलोनी, सूरजकुंड, गोरखपुर-273015

आलोचना

# नामवर सिंह : एक मूल्यांकन को पढ़ते हुए

## प्रेमशीला शुक्ल

प्रे

म भारद्वाज द्वारा संपादित पुस्तक 'नामवर सिंह : एक मूल्यांकन' संबंधी वार्ता को इसकी पृष्ठ संख्या 213 पर छपी पंक्तियों से शुरू किया जाए, "समीक्षा की समीक्षा या आलोचना की आलोचना एक कठिन काम है। यह काम और कठिन हो जाता है जब समीक्षा या आलोचना के घेरे में उपस्थित आलोचक नामवर सिंह जैसा जीवित ही किंवदंती बन चुका कोई व्यक्ति हो, एक ऐसा व्यक्ति, जिसने साहित्यिक आलोचना के समानांतर रचना और समाज के बीच एक संवाद सेतु का निर्माण कर आलोचना शब्द को एक नई अर्थवत्ता प्रदान की है। यह कठिन काम दुविधापूर्ण भी हो जाता है, जब उसे अंजाम देने वाला व्यक्ति कोई मेरे जैसा नौसिखुआ हो।" प्रस्तुत वार्ता तो एक पायदान और नीचे है—समीक्षा की समीक्षा की समीक्षा और अंजाम देने वाला नौसिखुआ से नौसिखुआ। कोई भी पुस्तक पाठक के लिए होती है, अतः पाठकीय प्रतिक्रिया तो दी ही जा सकती है। अतएव—

संपादक ने एक-से-एक नामी-गिरामी हस्तियों के विचारों से पुस्तक को सुसज्जित किया है। यह पुस्तक गद्य की अधुनातन विधाओं के माध्यम से डा. नामवर सिंह के वादी-विवादी-संवादी मनुष्य रूप और समीक्षक रूप तक पहुंचाती है। रचनात्मकता में ये विधाएं इतनी सक्षम हैं कि पाठक को भरपूर रसास्वादन करा सकें। इंटरव्यू, परिचर्चा, पत्र, संस्मरण, आत्मकथ्य, डायरी आदि को पढ़ते हुए नामवर सिंह तक पहुंचना बहुत अच्छा लगता है। यह इस पुस्तक को पढ़ने का अतिरिक्त सुख है। 'घर का जोगी जोगड़ा' और 'जीवन क्या जिया' को एक जिल्द के

भीतर पढ़ना रोमांचक अनुभूति है। इन विविध विधाओं के संयोजन में सधे संपादन की विशिष्टता साफ नजर आती है। तारतम्यता का सूत्र इन विधाओं को एक साथ पिरोए हुए है। समीक्षक नामवर सिंह की समीक्षा के लिए 'आकलन' और 'पुस्तक के बहाने' में अनेक सुविचारित-सुविवेचित लेख हैं। परिशिष्ट रूप में नामवरजी के लिखे को स्थान देना पुस्तक पर पानी चढ़ाने जैसा है। इसके बिना तो सब सूना ही रहता। कलेवर की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत समृद्ध है। 'व्यक्तित्व और कृतित्व' जैसे घिसे-पिटे जुमले से अलग, अलग-अलग दृष्टिकोण से किसी रचनाकार के मूल्यांकन का यह सुंदर प्रयास है। नामवरजी के बुद्धि-वैभव के अनेकानेक शेड्स यहां मौजूद हैं।

नामवरजी का सबसे महनीय एवं स्पृहणीय रूप गुरु का है। तरुण कुमार और



श्रीभगवान सिंह ने जिस तरह अपने गुरु की स्केचिंग की है, पाठक के मन में मलाल रहेगा कि उसे नामवरजी से पढ़ने का सौभाग्य नहीं मिला। शिष्यों को जैसे पढ़ने में आनंद आया, वैसे ही गुरु को पढ़ाने में भी। नामवरजी भी मानते हैं कि पढ़ाने का अपना आनंद है और जब से पढ़ाना छूटा, लिखना कम हो गया।

संस्मरणों की सीरीज से गुजरते हुए नामवरजी के व्यक्ति रूप के दर्शन होते हैं। सहज, संवेदनशील, मददगार, बातों के जादूगर, उद्भट और मुंहफट बनारसी—ये हैं नामवरजी। धोती-कुर्ता धारण करनेवाले नामवरजी सीधे सतर मुंह में पान दबाए भोलेपन से मंद-मंद मुस्काते रहते हैं, लेकिन सामने वाले पर उनकी विद्वता का आतंक हावी रहता है। संस्मरणों में गुरुदयाल सिंह का संस्मरण कलम से नहीं, दिल से लिखा गया है और सीधे दिल तक पहुंचता है। ‘घर का जोगी जोगड़ा’ मुहावरे के अर्थ को सिद्ध करता हुआ हिंदी संस्मरण साहित्य में विशेष ध्यान रखता है।

प्रत्येक व्यक्ति में अच्छाइयाँ-बुराइयाँ होती हैं। नामवरजी के संबंध में अजीब बात है कि जिसे जो भी दिखाई देता है, अपने क्लाइमेक्स पर दिखाई देता है। अगल-अगल में छपे संस्मरण ‘सर्वहारा से सहारा तक’ और ‘सहारा की भव्यता’ को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। ये संस्मरण नामवरजी को दो ध्रुवों पर स्थापित करते हैं। पहला नामवरी पैतरेबाजी का बखान है तो दूसरा नामवरी सहजतापूर्ण वैचारिक संगति का सूचक है। जिसमें ‘सहारा की भव्यता’ होगी, वह ‘सर्वहारा से सहारा तक’ की यात्रा क्यों करेगा? इन संस्मरणों को पढ़ते हुए ‘जीवन क्या जिया’ की पंक्तियों तक पहुंचकर कई प्रश्न उठने लगते हैं। नामवरजी अपने जीवन कासिंहावलोकन करते हुए लिखते हैं, “इसका दुःख तो मुझे रहेगा कि इतना पढ़ने-लिखने, समझने, मानवीय संवेदना की बातें करने के बावजूद मैं अपनी पत्नी को सुख नहीं दे सका।” नितांत व्यक्तिगत बात को इतनी



बेबाकी से कहने वाले आदमी की इस बात पर यकीन क्यों न कर लिया जाए कि “मैंने किसी के हाथ के नीचे तो अपना हाथ नहीं रखा। रखा है तो किसी के हाथ पर हाथ रखा है और रखा है तो उसके बदले में कुछ नहीं लिया।”

जगजाहिर है, डा. नामवर सिंह आज के हिंदी समीक्षा साहित्य के शिखर पुरुष हैं। उनकी नजर में आने के लिए कितने लोग कितने जुगाड़ करते हैं। वे पारस पत्थर नहीं हैं, जो लोहे को छूकर सोना बना दें। हां, वे जौहरी अवश्य हैं, कचरे के ढेर में से सोने की परख जरूर कर लेंगे। डा. विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे समर्थ समीक्षक स्वयं को ‘नामवरजी की जेब से निकले आलोचक’ मानते हैं, भारत भारद्वाज उन्हें ‘हिंदी आलोचना का हीरामन’ कहते हैं। नामवरजी के समीक्षक व्यक्तित्व के लिए ऐसे अनेकानेक विशेषण इस पुस्तक में हैं। डा. परमानंद श्रीवास्तव ने तो नामवरजी के ‘संपादक विवेक को भी उनकी आलोचना दृष्टि की तीक्ष्णता की फलश्रुति’ माना है। डा. नामवर सिंह का अध्ययन क्षेत्र काफी विकसित है। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों से जुड़ी देश-देशांतर की पुस्तकों का अध्ययन नामवरजी करते हैं। उनकी रुचि प्राचीनों और नवीनों में एक साथ है। डा. विश्वनाथ प्र. तिवारी के शब्दों में “उन्होंने लोक और शास्त्र

को गंभीरता से पढ़ा है।” इसके साथ ही नामवरजी में गजब का ‘विट’ है। ये सब क्षमताएं और विशेषताएं कोरा ज्ञान और हल्की हाजिरजवाबी बनकर रह जाएं, यदि इनसे चिंतन का स्रोत न फूटे, अभिव्यक्ति का आवेग न उमड़े। नामवरजी में ये स्रोत और आवेग पूरी इंटेन्सिटी के साथ मौजूद है। नामवरजी ने अपने चिंतन को सहेजकर, अभिव्यक्ति को संवारकर, समीक्षा को ईक्षा से आगे ले जाकर सृजन के रूप में ग्रहण किया है। डा. निर्मला जैन ने इसे ‘नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा’ कहा है और ए. अरविंदाक्षन ने ‘सौंदर्य दृष्टि’।

“नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा रचना में रमणीयता पैदा करती है और आलोचना में पठनीयता। यही सर्जनात्मकता नामवरजी की आलोचना दृष्टि और शैली का प्राण है।” (पृ. 57) “चिंतक साहित्य को पहले संस्कृति के संदर्भ में परखता है।... इससे चिंतक अपनी सौंदर्यदृष्टि का परिचय देता है। नामवर सिंह अपने प्रखर चिंतन के माध्यम से सामान्य समीक्षक से भिन्न सक्षम रचनाकार की भूमिका में उतर आते हैं।” (पृ. 108) वस्तुतः डा. नामवर सिंह समीक्ष्य कृति का भावन करते हुए अपनी रचना प्रस्तुत करते हैं—ऐसी रचना, जिसमें हिंदी के पाठकों का स्वाद बदल देने की ताकत है। इस ताकत की विवेचना ही ‘नामवर सिंह : एक मूल्यांकन’ की मूल ध्वनि है। अलग-अलग शब्दों में यह ध्वनि सर्वत्र व्याप्त है।

डा. नामवर सिंह के लेखन क्षेत्र का विस्तार बहुत है। वे कथालोचक हैं, काव्यालोचक हैं, वे समीक्षा के सिद्धांतों का गंभीर विश्लेषण करते हैं, सृजनात्मक लेखन की धारदार व्यावहारिक समीक्षा करते हैं। ‘आकलन’ और ‘पुस्तक के बहाने’ के आलेख सुविचारित और सुविवेचित हैं। अतः यहां प्रशंसा के कसीदे काढ़ने वाले रेशमी धागों के साथ बखिया उधेड़ने वाली नोंकदार सुई का यथा अवसर उपयोग हुआ है। सबने माना है कि यहां कुछ ऐसा खास है कि



इसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, लेकिन अनेक को ऐसा भी लगा है कि कोई बदगुमान झोंका इस क्षेत्र की सुगंध को भीतर भर लेने से रोकता है। लेखकों ने इसे विचारों का 'द्वैत', 'अंतर्विरोध', 'मत-विभिन्नता' आदि नाम दिए हैं। नामवरजी के काव्यचिंतन पर प्रकाश डालते हुए कर्मेन्दु शिशिर को ऐसा लगता है कि "अपनी जागरूकता, तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि और काव्य मर्मज्ञता के बावजूद उनकी मत विभिन्नताएं विवाद का कारण बनती रही हैं।" इसी तरह कथालोचना की अवधारणों को स्पष्ट करते हुए राकेश बिहारी को लगता है कि "जैसे ही कुछ थमकर हम इन सिद्धांतों के कुछ भिन्न पहलुओं पर देखते हैं, अंतर्विरोध की कई स्पष्ट दरारें कालीन के भीतर से झांकने लगती हैं।" इस तरह अध्येताओं ने पाया है कि "उनकी मूल चिंतन प्रक्रिया में बुनियादी द्वैत की उपस्थिति बनी रहती है। वे विषय को मनोनुकूल व्याख्या के लिए 'पालैमिकल' बना देते हैं।

नामवरजी ने वाचिक परंपरा को नए ढंग से प्रारंभ किया है। विचारगोष्ठियों और समारोहों में पहुंचकर नामवरजी ने अलख जगाया है, तमाम मुद्दों पर लोगों को जागरूक किया है और बहस को नए सिरे से आगे बढ़ाया है। हिंदी समाज इसके लिए अवश्य ही उनका ऋणी है, किंतु दिक्कत यहां भी है। अक्सर उनके वक्तव्य अधूरे होते हैं, वक्तव्य के अर्थ बदल दिए जाते हैं, पूर्व में की गई स्थापनाओं को बदल दिया जाता है। प्रो. राजेंद्रकुमार इसे नामवरजी का बदला रंग कहते हैं। वे लिखते हैं—नामवर का बदला देख रंग। श्रोता समाज रह गया दंग।

समीक्ष्य रचनाओं की बारीकियों को बताने के क्रम में नामवरजी ने मार्क्सवाद, रूपवाद, लोकवाद और गांधीवाद के विचारसूत्रों का उल्लेख और उपयोग किया है। प्रत्येक व्यक्ति की सोच और चिंतन की अपनी प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में विचारधरा में परिवर्तन या विभिन्न विचारसूत्रों के समावेश पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, बल्कि अनेक प्रसंगों में ऐसा होना चिंतन के क्रमिक विकास एवं प्रौढ़ता का द्योतक होता है। विचारसूत्रों की मनमानी आवाजाही आपत्तिजनक है। नामवरजी के संबंध में

साहित्य जगत को रंज इसी बात से है। रूपवादी एवं वामपंथी विचारधरा की चर्चा एकाधिक आलेखों में हुई है। मार्क्सवाद के साथ लोकधर्म की पक्षधरता भी सवालियों के घेरे में है। नामवरजी द्वारा गांधीजी की विश्वदृष्टि को ज्यादा सार्थक मानने पर तल्ल टिप्पणी की गई है कि तब वे प्रगतिशील लेखक संघ में क्या कर रहे हैं। कुछ आलेखों में इन बातों को 'समय और संस्कृति को समझने के लिए वांछित परिवर्तित दृष्टि का पक्षधर' ठहराया गया है।

सार यह कि विभिन्न कोणों से गहन पड़ताल करते हुए डा. नामवर सिंह द्वारा लिखी गई पुस्तकों के बहाने इस पुस्तक के आलेख उनकी समीक्षा दृष्टि का सूक्ष्म आकलन करते हैं। इस क्रम में कई बार एक आलेख का मंतव्य दूसरे से अलग और उल्टा होकर सामने आता है। फिर भी, अनेक किंतु-परंतु के बाद पुस्तक स्थापित करती है कि हिंदी समीक्षा साहित्य में आज की तारीख में उन जैसा कोई नहीं है। मनःस्थिति का आलोचक होने के बावजूद वे मूल्य मीमांसा से गहरे जुड़े आलोचक हैं। विवादों के धूमिल होने के बाद आगे आनेवाली पीढ़ी प्रगतिशील परंपरा की महान हस्ती के रूप में डा. रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध के साथ डा. नामवर सिंह को याद करेगी।

'नामवर सिंह : एक मूल्यांकन' में मूल्यांकन और आकलन के अलावा भी बहुत कुछ है, जिसके माध्यम से नामवर सिंह जैसे आलोचक के अकेलेपन का हिस्सेदार बना जा सकता है। मसलन—बातों-बातों में, संवाद, परिशिष्ट। इन सबसे छनकर जो पाठक तक पहुंचता है, उसके अनुसार सन् 1949 से शुरू हुई अद्यावधि तक की आलोचना यात्रा नामवरजी के लिए आत्मसंघर्ष की पीड़ा है। आ. शुक्ल की आलोचना से नामवरजी ने अपनी आलोचना यात्रा प्रारंभ की। आ. शुक्ल डा. नामवर सिंह की परंपरा हैं। विरासत में पाने के साथ-साथ नामवरजी ने उन्हें साधना से अर्जित भी किया है, इसलिए नामवरजी का शुक्लजी से टकराव भी है। नामवरजी का टकराव डा. नगेंद्र और डा. रामविलास शर्मा से भी है। डा. नामवर सिंह ने थियोडोर अडोर्नो की इस पंक्ति को अपने लेखन और जीवन के लिए आदर्श माना है, जिसके

अनुसार अपने अंदर परंपरा का होना जरूरी है, यदि कोई उससे उचित ढंग से घृणा करना चाहता है। एक आम पाठक की दिक्कत यहीं से शुरू होती है (पाठक नामवरजी की चिंता के कंद्र में है—पृ. 39)। परंपरा व्यक्ति के भीतर है, अनिवार्य रूप से, सहज रूप से। इसके आगे व्यक्ति उसे साधना से अर्जित करता है, इस मंतव्य से कि वह उससे घृणा करना चाहता है तो क्या इसकी संभावना नहीं बनती कि परंपरा खलनायक लगने लगे। ऐसी स्थिति में परंपरा का विश्लेषण मात्र संभव है, संवर्द्धन नहीं। परंपरा का पूर्ण बोध प्राप्त कर देश और काल की सापेक्षता में लिखी गई रचना तत्कालीन ऐतिहासिकता की सीमा में बंधी नहीं होती, हर ऐतिहासिकता उस रचना में अपने उत्तर तलाशती है। "जरूरी नहीं कि विद्रोह का स्वर भी उग्र हो, यह बात सूर के बारे में जितनी सच है, उतनी ही द्विवेदीजी के बारे में भी" और उतनी ही नामवर सिंह के बारे में भी। प्रिय पुमर्थों 'महान' में इस भाव का संस्पर्श है।

जब नामवरजी 75 वर्ष के हुए, काशीनाथ सिंह के प्रश्न—"वह कथा है, जो नहीं मिला—के उत्तर में नामवरजी का उत्तर था—समाधिस्थ चित्त की वह दशा, जिसमें मनोवांछित की रचना संभव होती है।" अर्थात् वह, जो नामवरजी का मनोवांछित है, अभी अलिखित है। चित्र की उस दशा की रचना जहां अर्द्ध चेतन और चेतन का द्वंद्व शामिल हो जाता है, कोई संघर्ष और अंतर्विरोध शेष नहीं रह जाता, व्यक्ति 'दसित द्राक्षा की भांति' स्वयं को निचोड़कर महाभाव के समक्ष अर्पित कर देता है, तत्वाभिनवेशी समीक्षक नामवर सिंह की उस सत्वसंवर्द्धित रचना की प्रतीक्षा है। अतः 'नामवर सिंह : एक मूल्यांकन' के आगे पुनर्मूल्यांकन की संभावना बनी हुई है। प्रस्तुत पुस्तक इस ओर भी संकेत करती है।

नामवर सिंह : एक मूल्यांकन/सं. प्रेम भारद्वाज/सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-11002/मूल्य : 900

प्रदक्षिणा, दक्षिणी उमा नगर, सी.सी. रोड, देवरिया-274001 (उ.प्र.) मो. 09450925784

# अतिवादी आलोचना की मार

सूरज पालीवाल

शि

शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव, यशपाल तथा राहुल सांकृत्यायन ऐसे साहित्यिक हैं, जो आजीवन डॉ. रामविलास शर्मा के निशाने पर रहे। रामविलासजी ने जहां भी मौका मिला, उन पर प्रहार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। रामविलासजी के अपने तर्क और तर्कश हैं, जिनकी उपेक्षा करना कठिन है। उनकी विश्लेषण पद्धति की यह खासियत है कि वे जिसके पक्ष में हैं, उसे अपनी वैचारिकता देकर महान सिद्ध कर देते हैं और जिसके विरोध में हैं, उसे धूल चटाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ते। यह बात दूसरी है कि इस सूखे से बचाने की कोशिश मधुरेशजी जैसे समीक्षक करते रहे हैं। यशपाल और शिवदान सिंह चौहान दोनों पर मैंने मधुरेशजी की पुस्तकें पढ़ी हैं और ध्यान से पढ़ी हैं। हर बार मेरे मन में यह विचार आया है कि जिस लेखक को रामविलासजी ने अपनी आलोचना से धराशायी कर दिया है, क्या मधुरेश उन्हें बचा पाएंगे? मैं मधुरेशजी को कम करके नहीं आंक रहा हूँ, पर मधुरेशजी पर बात करते समय मेरे सामने रामविलासजी हैं। जाहिर है कि दोनों की कोई तुलना नहीं हो सकती। यशपाल वाली पुस्तक में भी मधुरेश यशपाल का पक्ष लेते हुए रामविलासजी को कोसते हैं और शिवदान सिंह चौहान पर लिखते हुए भी। यह कोसना एक ग्रंथि की तरह चुभता है, आलोचना की किरकिरी बनता है—

यशपाल और चौहान के पक्ष को बड़ा आधार प्रदान नहीं करता। दूसरा यह भी कि जब यशपाल और शिवदानसिंह चौहान उनके सामने अपना सबल पक्ष नहीं रख

सके, तब मधुरेश क्या रखेंगे?

मसलन, मधुरेश 'मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान' में रामविलासजी की एकांगी और पक्षपातपूर्ण प्रशंसा के विरोध में शिवदानसिंह चौहान का पक्ष लेते हुए लिखते हैं 'रामविलास शर्मा ने जिन महत्वपूर्ण लेखकों का सकारात्मक मूल्यांकन किया, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, निराला, रामचंद्र शुक्ल और महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि, शिवदानसिंह चौहान कहीं भी उनका अकारण अवमूल्यन नहीं करते, लेकिन उनकी एकांगी और पक्षपातपूर्ण प्रशंसा का वे तीव्र और उग्र विरोध करते हैं। वे मानते हैं कि इससे मूल्यांकन का वास्तविक परिप्रेक्ष्य धुंधला होता है, जिससे दूसरे लेखकों के प्रति अन्याय तो होता ही है, कुल मिलाकर आलोचना की विश्वसनीयता का क्षरण भी होता है। प्रगतिवादी आलोचना में वस्तुतः इस प्रकार



की यांत्रिक और दुराग्रही आलोचना को ही उन्होंने कुत्सित समाजशास्त्रीयता का उदाहरण बनाकर उसकी तीव्र भर्त्सना की। वे स्वयं भी भारतेंदु हरिश्चंद्र को पुश्किन के समकक्ष रखकर देखते हैं, लेकिन रामविलास शर्मा जिस तरह उन्हें शेक्सपीयर से श्रेष्ठ लेखक बताकर प्रस्तुत कर रहे थे, उस स्वेच्छाचारी और अराजक दृष्टि की वे निंदा करते हैं। इसी तरह प्रेमचंद को श्रेष्ठ बनाने के क्रम में वे प्रेमचंद के संदर्भ में तोलस्तोय और गोर्की के अर्थहीन, भ्रामक और दुराग्रही अवमूल्यन का विरोध करते हैं।' यानी शिवदानसिंह चौहान का तर्क यह है कि भारतेंदु की तुलना शेक्सपीयर से और प्रेमचंद की तुलना तोलस्तोय तथा गोर्की से नहीं करनी चाहिए। शिवदानसिंह चौहान तो अब हैं नहीं, लेकिन मधुरेशजी को तो उनके इस तर्क पर विचार करना चाहिए कि साहित्य में समकालीन विषयों और मुद्दों पर जिस तार्किकता के साथ भारतेंदु ने लिखा, जिस प्रकार रीतिकालीन विषय और भाषा के साथ मानसिकता का विरोध भारतेंदु ने किया, जिस तरह ब्रज भाषा की जगह खड़ी बोली को सर्वमान्य बनाया तथा गद्य की तमाम आधुनिक विधाओं के लेखन में कीर्तिमान स्थापित किए, क्या हिंदी में भारतेंदु किसी अन्य देशी-विदेशी भाषा के साहित्यकार से तुलनीय नहीं हो सकते? कहना न होगा कि 1857 की पराजय के बाद की मानसिकता को सबल ढंग से भारतेंदु और उनके मंडल के लोग ही रख पाए। इसी प्रकार यह मानने में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है कि हिंदी कथा-साहित्य को प्रेमचंद का प्रदेश किसी देशी-विदेशी भाषा के लेखक से कम नहीं है। प्रेमचंद के समय

से लेकर आज तक सभी एक स्वर से प्रेमचंद के महत्त्व को स्वीकार करते आए हैं, पर पता नहीं शिवदान सिंह चौहान को रामविलास शर्मा का मूल्यांकन एकांगी लगता है। क्या मधुरेश यह बता पाएंगे कि प्रेमचंद को समझने के लिए 'प्रेमचंद और उनका युग' आज भी महत्त्वपूर्ण पुस्तक नहीं है। दोनों विश्व युद्धों के बीच किसान, जमींदार और अंग्रेजों की रीति-नीति को समझने के लिए हमारे पास प्रेमचंद से बेहतर व्याख्याकार कौन है? मधुरेश



शिवदानसिंह चौहान के प्रेमचंद के संबंध में एक और कथन को सोत्साह उद्धृत करते हैं, 'लेकिन लेखकों में वे मेरे एकमात्र आराध्य नहीं हैं। विश्व में ही क्यों, भारत में भी उनसे बड़े-बड़े लेखक हुए हैं, इस युग में ही। इस संबंध में रवींद्रनाथ ठाकुर और शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय को भुला देना मेरे लिए संभव नहीं है।' रामविलासजी के लिए एकमात्र का सवाल नहीं था, यहसवाल शिवदान सिंह चौहान और मधुरेश ने बनाया है। स्वयं सवाल बनाकर उसका उत्तर भी स्वयं देना, रामविलासजी की फितरत में नहीं था। मधुरेश को इस सवाल का उत्तर भी देना चाहिए था कि प्रेमचंद के समकालीन दूसरा महत्त्वपूर्ण कथाकार हिंदी में कौन था? बांग्ला या अन्य भाषाओं के लेखकों से तुलना करने पर प्रेमचंद छोटे नहीं हो जाते। जिन शरत् बाबू का वे जिक्र कर रहे हैं, उन्हीं ने प्रेमचंद को 'उपन्यास सम्राट' कहा था।

मधुरेश को शिवदानसिंह चौहान के अतिवादी दृष्टिकोण को निष्पक्ष होकर उठाना चाहिए था। उन्होंने जो उद्धरण दिए हैं, उनमें तो शिवदानसिंह चौहान का ही पक्ष कमजोर साबित होता है। अपने प्रिय आलोचक पर बात करते समय उनकी क्षमता को उजागर करना चाहिए, न कि अक्षमता को। अंत में एक और उद्धरण उद्धृत किया है, जिसमें रामविलासजी की आलोचना की सीमा बताई गई है, 'ऐसी एकांगी और पथभ्रष्ट आलोचना तो स्कूल के विद्यार्थियों को भी शोभा नहीं देती।' अब पाठक ही तय करें कि भारतेंदु और प्रेमचंद पर जो रामविलासजी की पुस्तकें हैं, उन पुस्तकों में दोनों साहित्यकारों का

जो मूल्यांकन है, क्या वह स्कूल के विद्यार्थी की ज्ञान-सीमा से भी कम है? या उन्हें न समझ पाने और परस्पर ईर्ष्या में विवेक खो चुके ऐसे आलोचक की बौखलाहट है, जो हिंदी के साहित्यकारों को कुछ मानने को तैयार नहीं है। शिवदान सिंह चौहान की अपनी सीमा यह है कि वे अपने ही लोगों पर वार करते रहे, उन्होंने कभी यह स्वीकार नहीं किया कि हिंदी में कुछ अच्छा भी हुआ है। जिस भक्तिकाल को स्वर्णयुग कहा जाता है, वह भी और आधुनिक काल जिसे हिंदी का नवजागरणकाल कहा जाता है, वह भी, सबमें कमियां हैं। दूरबीन लेकर सब जगह कमियां देखेंगे तो विकास की गति और मति का मूल्यांकन कैसे हो सकेगा? जहां से शुरुआत होती है, वहां कमियां रहती ही हैं, लेकिन आगे के लोग उन कमियों को क्रमशः दूर करते हैं, कोई भी समाज या साहित्य तभी विकास करता है, आगे बढ़ता है। 1936 में उन्होंने जो लेख लिखा था, 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' उसे पढ़ा जाना जरूरी है। रामविलासजी की टकराहट यहीं से होती है। उस लेख में उनकी स्थापना है कि 'हिंदी के साहित्यकारों ने विदेशों के साहित्यकारों या कलाकारों की तरह न किसी स्वतंत्र विचारधारा को अपनाया और न उसका साथ दिया। भक्तिकाल में भी केवल आत्मसमर्पण, भक्ति में तल्लीनता आदि भाव ही हमारे तुलसी, सूर आदि के साहित्य में भर पाए थे। उसके बाद रीतिकाल में विचारधारा तो दूर, हमारे कवि कविताबद्ध कोकशास्त्र लिखने लगे। उनसे इस अधोगति के अलावा और उम्मीद भी क्या की जा

सकती थी? और वर्तमान काल में भी किसी स्वस्थ विचारधारा का नाम नहीं। एक अयोध्या सिंह यहां तो दूसरे दुलारेलाल वहां, आज भी अपने रसकलश और दोहावली में कोकशास्त्र का पूरा निचोड़ कुछ और नए रसों को मिलाकर भर रहे हैं और हिंदी के समालोचक इन नए रसों की खोज पर उनके सामने बधाई स्वरूप नतमस्तक हो जाते हैं।'

तुलसी, सूर, जिन्हें हम अपनी ताकत मानते हैं, यदि वे ही शिवदान सिंह चौहान को कुछ नहीं लगते तो

फिर रीतिकाल तो कोकशास्त्र लगना ही था। क्या यह आलोचना की स्वस्थ पद्धति है, क्या यह अपने समाज को समझने और समझाने का प्रगतिशील दृष्टिकोण है। मामूली-सी समझ कि जिस आलोचना में आप हथियार भांज रहे हैं, उसमें अपने पूर्वजों के काम और उनके योगदान को एक बार तो देख लेना चाहिए था। जो आचार्य रामचंद्र शुक्ल तुलसीदास से अपनी आलोचना के औजार गढ़ते हैं, वे तुलसी एक वाक्य में खारिज कर दिए गए, यानी मुगल काल की सारी साहित्यिक सांस्कृतिक धरोहर को एक सिरे से नकार दिया। जो सूर और तुलसी अपने समय के चित्रण के साथ राजसत्ता का एक मजबूत और लोकोन्मुखी विकल्प रचते हैं, भक्ति की तल्लीनता में बहा दिए गए। इसी तरह पूरे-के-पूरे रीतिकाल को 'कविताबद्ध कोकशास्त्र' कहकर हिंदी के काव्य विषयक गंभीर चिंतन परंपरा को नकारना है। अपनी शास्त्रीय परंपरा पर गर्व करने की बजाय उसे सिरे से खारिज करना, न केवल ज्ञान विमुखता है, अपितु एक प्रकार से इतिहास और समाज की उपेक्षा भी है। घनानंद, जिन्हें शुक्लजी रसराज कहते हैं, चौहान साहब उनकी कविता को भी कोकशास्त्र की श्रेणी में रखते हैं और अपने वर्तमान काल यानी द्विवेदी युग और छायावादी युग के कवियों को तो वे किसी स्वस्थ विचारधारा से युक्त कवि मानने को ही तैयार नहीं हैं, चाहे निराला ही क्यों न हों? एक ओर विचारधारा का आग्रह है तो दूसरी ओर विचारधारा नारेबाजी लगने लगती है, यानी कविता के मूल्यांकन का अपना कोई विजन

नहीं है, जो आपमें नहीं है, उसी के लिए दुराग्रह है कि इसके बिना आप क्या हैं? जिनके पास विचार नहीं है, उनको खारिज करने के लिए कहा कि विचार के बिना आपको मैं कवि नहीं मानता और जिनके पास विचार है, उनसे कहा कि कविता में विचार तो नारेबाजी है, इसलिए मैं आपको कवि ही नहीं मानता। मधुरेशजी ने इसे उनकी विशेषता माना है, इसलिए उसे रेखांकित करते हुए लिखा, 'केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और शंकर



शैलेंद्र की अनेक कविताओं को वे शंका की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि राजनीतिक नारेबाजी से वे कविता को मुक्त और ऊपर रखना चाहते हैं।' अब तय तो मधुरेशजी को ही करना है कि वे केदार, नागार्जुन और शैलेंद्र की कविताओं के बारे में क्या कहेंगे? मैं तो मानता हूँ कि ये तीनों अपनी राजनीतिक समझ और राजनीतिक कविताओं के लिए ही जाने जाते हैं, एक परिपक्व राजनीतिक समझ समाज के सामने कवि का उज्ज्वल पक्ष रखती है, उसके बेहतर समाज के निर्माण के सपने को साकार करती है। मधुरेशजी को इस द्वैत पर बात करनी चाहिए थी, लेकिन रामविलासजी ने केदारजी की राजनीतिक कविताओं पर लिखा है, इसलिए शिवदानसिंह चौहान राजनीति का ही विरोध करने लगे और मधुरेशजी उस पर रीझ-रीझकर गाने लगे तो फिर आलोचक की अपनी समझ को क्या कहा जाए?

शिवदानसिंह चौहान की पुस्तक 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष 1954 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक को केंद्र में रखकर मधुरेशजी ने एक लंबा लेख लिखा 'मार्क्सवादी आलोचना और शिवदानसिंह चौहान'। कहना न होगा कि शिवदानसिंह चौहान पर लिखी पुस्तक का शीर्षक भी यही है। मधुरेशजी के लेख के मूल में 'हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष' पुस्तक है। वे इस पुस्तक को शिवदानसिंह चौहान के हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी विचारों के केंद्र में मानते हैं। इसलिए पूरे लेख में जगह-जगह इस पुस्तक से उद्धरण दिए गए हैं। दिलचस्प

बात यह है कि शिवदानसिंह चौहान भारतेंदु के प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' 1873 से ही हिंदी साहित्य के इतिहास को मानते हैं। इससे पहले के साहित्य को वे हिंदी भाषा समूह का इतिहास कहते हैं। हिंदी की जो थाती है कि वह अपनी प्रांतीय और क्षेत्रीय बोलियों से विकसित हुई है, चौहान साहब उसे खारिज करते हैं। यह समझ हिंदी को सीमित करती है। एक हजार वर्ष के साहित्य के समृद्ध इतिहास को काटकर अलग करती है। अपनी जड़ों से काटकर हिंदी साहित्य के इतिहास को नहीं समझा जा सकता। खड़ी बोली हिंदी रातोंरात विकसित नहीं हो गई, उसका अपना इतिहास है और भरा-पूरा इतिहास है, चौहान साहब हिंदी साहित्य के इतिहास को पूर्वा से काटकर, उसको जहां से अलग कर समझाने की कोशिश करते हैं, जो सीमित और एकांगी दृष्टिकोण है। उनकी समझ है कि 'आधुनिक शब्द यह भ्रम पैदा कर सकता है कि संभवतः हिंदी साहित्य की चर्चा करना असंगत है, क्योंकि साहित्य के रूप में हिंदी साहित्य का सारा-का-सारा आधुनिक ही है।' कहना न होगा कि शिवदान सिंह चौहान की इस समझ का परिणाम यह है कि 'भारतेंदु और उनके सहयोगी लेखकों का प्रगतिशील पक्ष सामाजिक कुरीतियों की भर्त्सना और ब्रिटिश शासन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की स्वीकृति में निहित है। ये लोग मूलतः प्रचारक और पत्रकार थे। यही कारण है कि सामयिक आंदोलनों की संकीर्णता से भी वे मुक्त नहीं थे।' इतिहास की इस व्याख्या पर भी मधुरेशजी

प्रसन्न हैं तो क्या कहा और किया जा सकता है। हिंदी के नवजागरण और उसके अग्रदूतों के महनीय योगदान को भी हम इस संकीर्ण नजरिए से देखेंगे तो फिर अस्सी वर्ष भी नहीं बचेंगे। मधुरेशजी को चौहान साहब के इस दृष्टिकोण पर विस्तार से लिखना चाहिए था, भारतेंदु और उनके मंडल के साहित्यिकों के योगदान पर अब तो विपुल यात्रा में सामग्री उपलब्ध है।

दरअसल, पूरी पुस्तक

रामविलास शर्मा और नामवर सिंह पर खीज उतारने के मूड में लिखी गई है। मधुरेशजी को जहां भी अवसर मिला है, उन्होंने शिवदान सिंह चौहान के माध्यम से या अपनी तरह से कटुक्तियां की हैं। आलोचना की यह स्वस्थ परंपरा नहीं है। शिवदान सिंह चौहान सारी जिंदगी इन्हीं दोनों से टकराते रहे, हारते और कुंठित होते रहे। अपने आरंभिक दिनों में जीवन संघर्ष और रचनात्मक ऊर्जा के बल पर उन्होंने खूब काम किया, पार्टी संगठन से लेकर प्रगतिशील लेखक संघ तक में, पर 1949 में रामविलासजी के प्रलेस महामंत्री बनने और उनके क्रमशः बढ़ते प्रभुत्व के कारण वे उनकी नीतियों के विरुद्ध न होकर रामविलासजी के ही सामने खड़े हो गए। वैचारिक संघर्ष व्यक्तिगत कटुता में बदलता गया और शिवदान सिंह चौहान उपेक्षा के शिकार होते गए। अपने अंतिम दिनों में उन्होंने जो उपेक्षा भुगती है, उसके बहुत सारे कारण होंगे पर एक बड़ा कारण उनका अतिवाद भी है। यह पुस्तक उनके अतिवाद को सही ठहराने का गलत प्रयास करती है। इस पुस्तक से शिवदान सिंह चौहान की सीमा भी दिखती है और मधुरेशजी की भी।

मार्क्सवादी आलोचना और शिवदानसिंह चौहान/मधुरेश/आधार प्रकाशन, ए.स.सी.एफ. 267, सेक्टर-16, पंचकूला-134113/मूल्य : ` 250

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), मो. 09421101128

# समय और साहित्य

दिनेश कुमार

सु

परिचित आलोचक-कथाकार विजयमोहन सिंह की पुस्तक 'समय और साहित्य' को किसी एक विधा के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता है। यह पुस्तक समय-समय पर लिखे गए निबंधों, पुस्तक समीक्षाओं, टिप्पणियों, संस्मरणों, श्रद्धांजलियों आदि का संकलन है। अब यह स्वाभाविक प्रश्न उठ सकता है कि लेखक ने पंचमेल खिचड़ी के रूप में पुस्तक क्यों तैयार की? पाठक इस किताब के पास किस उद्देश्य से जाए? अगर इधर-उधर बिखरी पड़ी सामग्री को ही एकत्र कर पुस्तक रूप देना था तो फिर किसी एक विधा को क्यों नहीं संकलित किया गया। इससे कम-से-कम पुस्तक का कोई चरित्र तो पता चलता?

ऐसा लगता है कि लेखक को भी यह एहसास है कि इस तरह के प्रश्न उठ सकते हैं। शायद इसीलिए उन्होंने इस संकलन के बारे में सफाई देते हुए लिखा है, "यहां उन सबको एकत्र करने के पीछे उद्देश्य यह भी रहा है कि संकलन में थोड़ी विविधता और सबरस हो, एकरसता न हो, जैसा कि अक्सर साहित्यिक संकलनों वाले संग्रहों में पाया जाता है।" अब लेखक को कौन समझाए कि यह पुस्तक है कोई साहित्यिक पत्रिका नहीं, जिसमें विविधता और सबरसता की दरकार हो। दूसरी बात यह है कि यह कोई राजेश जोशी की हाल ही में प्रकाशित 'किस्सा कोताह' की तरह कोई मुकम्मल गद्य रचना नहीं है, जिसमें विभिन्न विधाओं का मिश्रण किया जाए।

दरअसल हिंदी में किसी रचनाकार, प्रवृत्ति या विधा को केंद्र में रखकर स्वतंत्र आलोचना पुस्तक लिखने का चलन अब प्रायः खत्म हो चुका है। आलोचना के नाम पर

समीक्षात्मक निबंधों और टिप्पणियों को ही संकलित कर पुस्तक तैयार करने का चलन जोरों पर है, लेकिन अब लगता है कि एक तीसरा चरण शुरू हो चुका है, जहां गद्य में लिखे गए समस्त छिटपुट लेखन को 'आलोचना' के नाम पर प्रकाशित कराया जा रहा है। 'समय और साहित्य' इसी तरह की आलोचना-पुस्तक का एक उदाहरण है। वस्तुतः इस तरह के खिचड़ी संकलन तैयार करने की असल वजह किसी एक विधा से पुस्तक लायक सामग्री का इकट्ठा न हो पाना है। लेखक के पास धैर्य नहीं है कि वह इंतजार करे। इसीलिए 'सबकुछ' को जोड़-जाड़कर किताब तैयार कर दी जाती है। दूसरी वजह यह है कि लेखकों में यह इच्छा काफी बलवती हो रही है कि वे जो कुछ भी लिखें, वह उनके जीवन में ही जल्दी-से-जल्दी पुस्तक रूप में आ

जाए। हिंदी में अब ऐसी पुस्तकों की भरमार हो रही है, जो पहले या तो लेखक की मृत्यु के बाद आती थी या कम-से-कम उसके अंतिम दिनों में प्रकाशित होती थीं। प्रेमचंद की शेष रचनाएं तो अब तक प्रकाशित हो रही हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं कि विजयमोहन सिंह एक सुलझे हुए आलोचक हैं। उनकी दृष्टि स्पष्ट है। इसीलिए उनके आलोचनात्मक लेखन में कहीं उलझाव दिखाई नहीं देता है। कुल मिलाकर उनकी आलोचना बोझिल न होकर सहज और बोधगम्य है। इस संकलन से गुजरते हुए इस बात को सर्वत्र महसूस किया जा सकता है। साथ-ही-साथ इन लेखों को पढ़कर यह भी लगता है कि इस तरह के छिटपुट लेखन में विजयमोहन सिंह की ऊर्जा का अपव्यय हुआ है। इन लेखों और समीक्षाओं में जो ऊर्जा लगी है, वह अगर स्वतंत्र आलोचना पुस्तक में लगती तो वह निःसंदेह हिंदी आलोचना के लिए स्थायी महत्त्व की पुस्तक होती। इन अलग-अलग लेखों और टिप्पणियों में 'विजन' और प्रतिभा के दर्शन तो होते हैं, लेकिन वे कोई मुकम्मल प्रभाव नहीं डाल पाते हैं।

विजयमोहन सिंह की एक बड़ी खासियत यह है कि वे रचना का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए रचनाकार के वैशिष्ट्य को भी रेखांकित करते हैं। तात्पर्य यह कि वे विवेच्य रचनाकार की उस विशेषता को सामने लाते हैं, जो उसे औरों से अलग करती है। यह आलोचना का सबसे मौलिक और इसीलिए अत्यंत कठिन कार्य है। जयशंकर प्रसाद की कहानियों के विश्लेषण के क्रम में प्रसाद को लेकर उनके निष्कर्ष काफी उपयुक्त और सटीक हैं। उदाहरण के लिए यहां कुछ को देख लेना चाहिए—

'घृणा और प्रेम दोनों एक साथ? वह भी



अपने चरम रूप में? दरअसल यह प्रेम की वह जटिल गूढ़ तथा अभेद्य मनोभूमि है, जिसके मनोविज्ञान को प्रसाद जैसे कथाकार ही समझ सकते थे।...घृणा और प्रेम का यह सहअस्तित्व उसी नाटकीय विडंबना का चरमोत्कर्ष है, जिसे हम सामान्यतः नाटकीयता कहते हैं। प्रसादजी क्रूर विडंबनाओं के रचनाकार हैं। वस्तुतः प्रसादजी अनेक 'विधेयात्मक' अस्वीकारों के कथाकार हैं। उनकी कहानी में स्वीकार बहुत कम है। स्वाभिमान हमेशा प्रसादजी की कहानियों में एक बहुत बड़े मूल्य के रूप में स्थापित किया जाता है। प्रसादजी प्रेम को हमेशा एक त्रासदी के रूप में देखते हैं, क्योंकि वह प्रेम को जिस उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, वह त्रासदी (ट्रेजडी) होने के लिए अभिशप्त है। अपनी कहानियों में वे प्रायः तत्वचिंतक के रूप में ही सामने आते हैं। अतः वे हिंदी के पहले दार्शनिक कथाकार भी हैं।

प्रसाद की कहानियों का इतना सुंदर और पारदर्शी विश्लेषण प्रायः देखने को नहीं मिलता। इसी तरह का मौलिक विश्लेषण उन्होंने जैनंद्र का किया है। वे 'परख' को भाषा शिल्प, संरचना की दृष्टि से हिंदी का पहला नया उपन्यास मानते हैं। 'सुनीता' में छद्म और पाखंड को उजागर करते हुए गांधीवादी नैतिक मूल्य दृष्टि को स्थापित करते हैं। वे जोर देकर कहते हैं, "सुनीता आजादी की लड़ाई में तत्कालीन क्रांतिकारी पद्धति और कर्म का खोखलापन दिखाने के लिए ही लिखा गया है।" अपने बारीक विश्लेषण से उन्होंने अपनी इस स्थापना को विश्वसनीय बनाया है। उनके अनुसार जैनंद्र के कथा-साहित्य की विशेषता है—सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता तथा संक्षिप्तता। 'जैनंद्र का कथालोक' शीर्षक यह अध्याय अपने मौलिक विश्लेषण में बेजोड़ है।

विजयमोहन सिंह जितनी गहराई से पूर्ववर्ती रचनाकारों को समझते हैं, उतनी ही गहराई से समकालीन रचनाकारों को भी समझते हैं। उनकी इस समझ को पुस्तक समीक्षाओं में देखा जा सकता है। केदारनाथ सिंह के काव्य-संग्रह 'टॉलस्टॉय और साइकिल' की समीक्षा करते हुए उनके उस वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हैं, जो उन्हें आधुनिक भावबोध



के अन्य कवियों से अलग करती है। वे कहते हैं कि केदारनाथ सिंह 'एक साथ अत्याधुनिक तथा लोकधर्मी कवि हैं।' इस बात से शायद ही कोई असहमत होगा। कविता में एक साथ बिंब-प्रतीक और गहरी लोक चेतना का असाधारण मिश्रण केदारनाथ सिंह की अद्भुत विशेषता है। इसी खासियत के कारण वे गंवई चीजों पर कविता गंवई तरीके से नहीं लिखते। उसे एक अंतरराष्ट्रीय ऊंचाई प्रदान करते हैं।

प्रभा खेतान की पुस्तक 'उपनिवेश में स्त्री' पर लिखते हुए वे अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हुए पूछते हैं, "हिंदी में आज तक कोई महत्वपूर्ण समीक्षक तो क्या, महत्वपूर्ण चिंतक महिला भी क्यों नहीं हुई?...क्या कोई बौद्धिक सीमा है, जिसके पार महिला मस्तिष्क जा ही नहीं पा रहा है!" वे इस बात की ओर भी ध्यान खींचते हैं कि इस पुस्तक में प्रभा खेतान द्वारा दिए गए उदाहरण और संदर्भ सूची पश्चिमी और विदेशी महिला लेखिकाओं से भरे पड़े हैं, पर 'शृंखला की कड़ियां' की लेखिका महादेवी वर्मा का कहीं उल्लेख नहीं है। स्पष्ट है, इस पुस्तक में गैर-भारतीय नजरिए से स्त्री मुक्ति के प्रश्न को देखा गया है। इस संबंध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'शृंखला की कड़ियां' जब प्रकाशित हुई थी, तब सीमॉन द बोउआर की पुस्तक 'द सेकेंड सेक्स' का कहीं नामोनिशान नहीं था, पर इस

बौद्धिक गुलामी का क्या किया जाए? विजयमोहन सिंह मानते हैं कि इस पुस्तक में उत्साह और आक्रोश का अतिरेक है। इसी तरह उनकी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' के विश्लेषण के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, "यह आत्मकथा न तो किसी नारीवादी लेखन का उदाहरण बन पाती है, न किसी 'प्रामाणिक जीवन' जीने की कोशिश।"

समीक्षात्मक लेखों और टिप्पणियों के अतिरिक्त इस पुस्तक में विदेशी रचनाकारों ज्यां पॉल सार्त्र और नॉरमन मेलर पर परिचयात्मक विश्लेषणात्मक आलेख हैं। इसके अलावा 'नीरव रातों में बाढ़ का पानी और एक लंबी रंग यात्रा' शीर्षक से ब. व. कारंत को लेकर एक सुंदर संस्मरणात्मक आलेख है। यह कारंतजी के जीवन, उनकी रंग विकास यात्रा और उनके वैशिष्ट्य को सामने लाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। बाकी अधिकांश पुस्तक समीक्षाएं ही हैं। हालांकि इन समीक्षाओं में भी उनकी दृष्टि की स्पष्ट झलक मिलती है। रवींद्र कालिया की कहानियों को वे 'अपने समय में कैद कहानियां' मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है, "अपने समय और परिवेश को उतनी सहजता के साथ व्यक्त करने वाली ये कहानियां 'डेटेड' होने के लिए अभिशप्त हैं। ये खास उम्र, समय तथा पीढ़ी के यथार्थ के साथ इतनी घनिष्ठता से जुड़ी हुई हैं कि उससे दूर होते ही अप्रासंगिक और अनावश्यक लगने लगती हैं। यह अति समकालीन होने की सीमा है।" उनके निष्कर्षों से असहमति हो सकती है, लेकिन इसमें दो राय नहीं कि छोटी-छोटी पुस्तक समीक्षाओं में इस तरह की स्पष्टता प्रायः देखने को नहीं मिलती। विजयमोहन सिंह के निबंधों और समीक्षाओं में एक आलोचना दृष्टि स्पष्ट दिखाई देती है, पर इस संकलन में उसका कोई व्यवस्थित रूप सामने नहीं आ पाया है। ऐसे संकलनों में यह संभव भी नहीं है।

समय और साहित्य/विजयमोहन सिंह/राधाकृष्ण प्रकाशन, 7131, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 300

द्वारा आर. शैलजा, फ्लैट नं. 4 (अपर ग्राउंड फ्लोर), एस-21, खिड़की एक्सटेंशन, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017

# इतिहास लेखन : परंपरा का द्वंद्व

गिरीश मिश्र

इ

इतिहास लेखन जहां कुछ लोगों के लिए बड़ा कठिन कार्य है, वहीं कई अन्य लोगों के लिए काफी आसान भी है।

यदि आप रामशरण शर्मा, यदुनाथ सरकार, दामोदर धर्मानंद कोशांबी, इरफान हबीब या फिर सैयद हसन अस्करी जैसे लोगों का अनुसरण करते हुए इतिहासकार बनना चाहते हैं तो वह बड़ा ही कठिन कार्य है। घोर परिश्रम और लगन से सामग्रियां जुटानी होंगी, तथ्यों को परखना और तर्कशास्त्र की कसौटियों पर कसना होगा। इतिहास के मूलस्रोतों को प्राथमिकता देनी होगी, न कि गौण सामग्रियों पर निर्भरता रखनी होगी। कहना न होगा कि यह बड़ा ही नीरस, थकाऊ और समय लेने वाला काम है। अस्करी साहब अपनी पुरानी साइकिल पर पटल की गतियों में ही नहीं, बल्कि मनेर और बिहार शरीफ में भटकते दिखे। वहीं कोसांबी वाराणसी की तंग गलियों में घूमते हुए पुलिस की गलतफहमियों के शिकार बन चंद घंटों के लिए हिरासत में भी गए। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के प्रो. प्राणनाथ मेसोपाटामिया की सभ्यता की जड़ों को ढूंढने के लिए अपने घर-परिवार से दूर पश्चिम एशिया की खाक छानते रहे। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

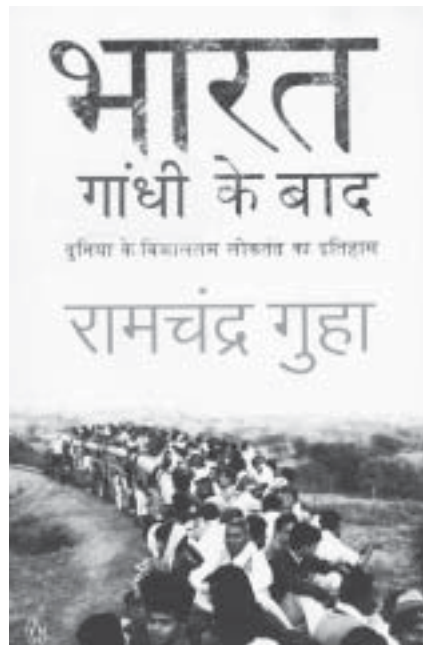
दूसरी ओर ऐसे स्वयंभू इतिहासकार हैं, जिन्हें इतिहास-लेखन की पद्धति, तथ्यों की अहमियत और तर्कशास्त्र के नियमों की कोई परवाह नहीं होती। उन्हें शोध संबंधी कोई प्रशिक्षण की आवश्यकता महसूस नहीं होती। वे कतिपय निष्कर्षों को पहले से ही निश्चित कर उनको सिद्ध करने में जुट जाते हैं। वे अनुकूल तथ्यों और विवरणों को बटोरते और बाकी को नजरअंदाज कर देते हैं। उदाहरण के लिए हम उस सज्जन की ओर इंगित कर

सकते हैं, जिन्होंने बिना किसी प्रशिक्षण और गहन अध्ययन के मनपसंद तथ्यों के आधार पर घोषणा कर दी है कि आर्य बाहर से नहीं आए, बल्कि भारत की पवित्र मिट्टी की पैदावार हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने हिंदी-क्षेत्र में नवजागरण होने की बात डंके की चोट पर कही है और एक से अधिक खंडों में भारत में अंग्रेजी राज का इतिहास लिख मारा है। यह अलग बात है कि उनके भावाभिभूत प्रशंसकों और शिष्यों को छोड़कर किसी ने इस स्वयंभू इतिहास-लेखक को अहमियत नहीं दी है। किसी भी प्रतिष्ठित इतिहासकार ने उनकी चर्चा तक नहीं की है।

रामचंद्र गुहा की प्रस्तुत पुस्तक इसी द्वितीय कोटि के इतिहास लेखन के अंतर्गत आती है। समाजशास्त्री रामचंद्र गुहा ने अपनी सुविधा और पसंद के अनुसार तथ्यों और घटनाओं का चयन कर पत्रकारिता की शैली में यह पुस्तक लिख डाली है। एक पेशेवर

इतिहासकार जब लिखता है, तब वह निरर्थक बातों और प्रसंगों का जिक्र मात्र अपने विवरण को रोचक बनाने के लिए नहीं करता, मगर आए दिन पत्रकारों का ध्यान अपने लेखन को चटपटा बनाने पर होता है। गुहा की प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। मिसाल के तौर पर हम यहां उनके द्वारा उल्लिखित प्रसंगों का जिक्र करेंगे। पहला, पृ. 120 पर गुहा भारतीय कम्युनिष्ट पार्टी की द्वितीय कांग्रेस का जिक्र करते हुए कहते हैं कि बी. सी. जोशी की जगह बी. टी. रणदिवे महासचिव बनाए गए। “खास बात यह थी कि दोनों की काफी पढ़े-लिखे ब्राह्मण थे।” यह टिप्पणी सर्वथा अनावश्यक है और इसका एकमात्र उद्देश्य विवरण को चटपटा बनाना है।

दूसरा, पृ. 381 पर गुहा लिखते हैं : “चिम्मैया कुर्ग के एक कॉफी बागान मालिक के घर पैदा हुए थे और लंबाई में 6 फीट, 3 इंच के थे। उनका आकर्षक व्यक्तित्व था और उससे भी आकर्षक उनका सैनिक रिकॉर्ड था। जब वह एक युवा सैन्य अधिकारी के रूप में इलाहाबाद में तैनात थे तो सिनेमा देखते वक्त एक बुजुर्ग भद्रपुरुष से वे मिले थे, जिसने उनसे पूछा था कि “एक भारतीय को अंग्रेजी सेना की वर्दी पहनने पर कैसा महसूस होता है?” ‘टिम्मी’ ने एक ही शब्द में जवाब दिया था, “हॉट।” वह बुजुर्ग व्यक्ति कोई और नहीं, खुद मोतीलाल नेहरू थे, जो जवाहरलाल नेहरू के पिता और एक मशहूर राष्ट्रवादी नेता थे। बाद में जब वे दोनों दोस्त बन गए तो थिम्मैया ने उनसे पूछा कि क्या उन्हें इस्तीफा देकर राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हो जाना चाहिए? मोतीलाल नेहरू ने उन्हें सलाह दी कि वे ऐसा न करें, क्योंकि आजादी मिलने के बाद उन जैसे कई अफसरों की जरूरत होगी।”



उपर्युक्त घटना सही हो सकती है, मगर उसकी प्रासंगिकता और उपयोगिता गंभीर इतिहास-लेखन की दृष्टि से कुछ भी नहीं है। गुहा ने उसकी चाशनी अपने सतही विवरण में लगाकर रोचक बनाने की कोशिश की है।

पुस्तक का सबसे लचर विवरण-विश्लेषण भूमि-सुधार से जुड़ा है। गुहा को भारत की भूराजस्व व्यवस्था के विभिन्न आयामों और उनकी पेचीदगियों की कोई भी समझ नहीं है। उनको यह मालूम नहीं है कि सारे भारत में एक ही भूराजस्व व्यवस्था नहीं थी। दमामी बंदोबस्त हो या रैयतवारी या फिर महालवारी, उनमें मूलभूत भिन्नताएं थीं। उदाहरण के लिए दयामी बंदोबस्त वाले क्षेत्र, यानी बंगाल, बिहार और उड़ीसा में सरकार का रैयतों से सीधा संबंध न था और उन्नीसवीं सदी के अंत, यानी 1885 के बंगाल टेनेंसी एक्ट के आने के पहले सरकार के पास जमीन से जुड़े आंकड़े और ब्यौरे नहीं थे। सरकार की दिलचस्पी भूराजस्व समय पर प्राप्त करने में थी। इसीलिए 'सूर्यास्त के नियम' को सख्ती से लागू किया जाता था। 'पटवारी' नाम का जंतु दमामी बंदोबस्त के इलाकों में न था। उत्तर प्रदेश के गाजीपुर के पश्चिम में स्थिति पूरी तरह से अलग थी। याद रहे कि दमामी बंदोबस्त का पुरोधा लॉर्ड कार्नवालिस गाजीपुर में मरा और दफन हुआ।

भूराजस्व व्यवस्थाओं में मूलभूत भिन्नताओं के कारण पूंजी संचय और औद्योगिक निवेश ही नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन भी प्रभावित हुआ। बिहार, बंगाल और उड़ीसा में निजी उद्यमिता का उदय न होना, इसी से जुड़ा रहा है। खेद की बात है कि कतिपय अर्थशास्त्रियों ने सारे हिंदी क्षेत्र को भाषा के आधार पर पिछड़ा घोषित कर 'बीमारू' शब्द चालू कर दिया।

रामचंद्र गुहा को मालूम होना चाहिए था कि भारतीय संविधान में पहला संशोधन बिहार में जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन की गाड़ी को दलदल से निकालने के लिए किया गया था। दरभंगा के महाराजा ने बिहार सरकार के जमींदारी उन्मूलन कानून को न्यायालय में चुनौती दी थी। हिंदू महासभा और फिर जनसंघ ने महाराजा को समर्थन किया था। इतना ही नहीं, सरदार पटेल ने पटना के गांधी मैदान की एक सार्वजनिक सभा में जमींदारी उन्मूलन



का विरोध करते हुए तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री कृष्ण सिंह पीछे नहीं हटे, क्योंकि उन्हें किसान सभा के नेता स्वामी सहजानंद सरस्वती और पंडित नेहरू का समर्थन प्राप्त था। राज्य के रैयत भी उनके साथ थे। यदि गुहा ने राष्ट्रीय अभिलेखागार में उपलब्ध राजेंद्रप्रसाद पेपर्स और वाल्मीकि चौधरी द्वारा संपादित पुस्तकों को देखा होता तो उन्हें मालूम हो जाता कि राजेंद्रप्रसाद और पटेल जमींदारों के हमदर्द थे और इस प्रकार तत्कालीन वैचारिक संघर्ष पर वे काफी रोशनी डाल पाते।

गुहा ने आदिवासी समस्या पर अपनी पुस्तक में काफी कुछ लिखा है, परंतु उसमें गहराई नहीं है। उन्होंने झारखंड राज्य की मांग को लेकर जयपाल सिंह के आंदोलन का जिक्र किया है। उन्होंने जयपाल सिंह के जीवन पर भी रोशनी डाली है, परंतु उनके आंदोलन के चरित्र और उसके वित्तपोषण पर ध्यान नहीं दिया है। कारण यह है कि उन्होंने उससे जुड़े महत्वपूर्ण स्रोतों को नहीं देखा है। उदाहरण के लिए उन्होंने इस मामले के शीर्षस्थ विशेषज्ञ डॉ. कुमार सुरेश सिंह की किताबों, लेखों और व्यक्तिगत कागजात नहीं देखा है। सबसे दिलचस्प बात है कि जयपाल सिंह के आंदोलन और पार्टी के पीछे टाटा का हाथ था। पार्टी का कोषाध्यक्ष आरंभ से ही टाटा से जुड़ा एक गुजराती था। टाटा तत्कालीन अविभाजित बिहार की सरकार से कई कारणों से त्रस्त थे। टिस्को में किसी भी उच्चपद पर कोई बिहारी न था और पूरे जमशेदपुर पर टाटा का एकछत्र राज्य था, क्योंकि दाताभूम के जमींदार ने कभी उन्हें उस पर मालिकाना हक दिया था। टाटा

चाहते थे कि अलग झारखंड राज्य बने, जिसे वे पीछे से चला सकें, मगर जब ऐसा नहीं हुआ, तब उन्हें बिहार सरकार के एक चहेते अधिकारी को प्रबंधन में उच्चस्तर पर शामिल करना पड़ा। वर्ष 1967 में संविद सरकार के राजस्व मंत्री इंद्रदीप सिन्हा ने जब विधानसभा में जमशेदपुर पर से टाटा की जमींदारी खत्म करने का विधेयक रखा, तब टाटा की व्याकुलता सामने आई।

इतना ही नहीं, घनश्यामदास बिड़ला का रुख भी जयपाल सिंह के प्रति नरम था। उनके प्रकाशित कागजात में मीराबेन के नाम एक पत्र है, जिसमें उन्होंने बतलाया है कि छोटा नागपुर (अब झारखंड) में उन्होंने जमींदारी खरीदी है, जहां वे और उनके मेहमान आराम फरमाया करते हैं।

गुहा ने नागालैंड की समस्या और फिजो के आंदोलन का जिक्र किया है, मगर उनमें अमेरिकी भूमिका को पूरी तरह से गोल कर दिया है। अगर गहराई में जाकर कागजात को खंगालते तो पाते कि फिजो और उनके भारतीय हिमायतियों के पीछे अमेरिकी हाथ था।

गुहा ने कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम और उसके प्रकाशनों तथा उससे जुड़े भारतीय नेताओं का कहीं कोई जिक्र नहीं किया है। अमेरिकी पत्रिका 'रैम्पार्ट' द्वारा किए गए रहस्योद्घाटनों से यह तथ्य सामने आया कि कई नेताओं, विद्वानों तथा शोधसंस्थानों को अमेरिकी गुप्तचर विभाग और फोर्ड फाउंडेशन ने धन उपलब्ध कराए थे। कई अमेरिकी फाउंडेशनों ने भारतीय विद्वानों, पत्रकारों और राजनेताओं को अमेरिका की सैर कराई थी। दलाईलामा और उनके संघर्ष को भी प्रभावित करने की कोशिशें हुई थीं।

गुहा, जाने-अनजाने, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और गोडसे के प्रति नरम लगते हैं। ऐसा पृ. 122-125 देखने से लगता है। यह अनायास नहीं है, क्योंकि पूरी पुस्तक में उनका झुकाव दक्षिणपंथ की ओर है। वे एक दक्षिणपंथी साप्ताहिक 'करेंट' और उसके संपादक को यों ही बार-बार उद्धृत नहीं करते हैं।

गुहा की पुस्तक मूल रूप में अंग्रेजी में है और हमारे सामने उसका हिंदी अनुवाद है, जो व्याकरण और वर्तनी की भयंकर गलतियों से भरी हुई है। उसकी कापी एडिटिंग नहीं हुई



है और न ही प्रूफ रीडिंग। आरंभ से लेकर अंत तक अनुवाद, संपादन और प्रूफ रीडिंग की लापरवाही दिखती है।

अनुवाद कितना हास्यास्पद है, यह इस बात से साफ हो जाता है कि जे. वी. एस. हाल्डेन को जे. वी. एस. हेल्डीन, दानियल लतिफी को डेनियल लेटीफी, मौरिस को मोरीस, ने विली चैम्बरलिन को निवेली चौम्बरलिन और गुहा के गुरु आंद्रेबेत्ते को कहीं एंड्रेबेटिले तो कहीं बेटली लिखा गया है। इतना ही नहीं, आपको पुस्तक में मुशिरल हसन, आस्कर लेंग, चार्ल्स बेटलहम और जेनटिनबर्गेन के दर्शन होते हैं, जिनका अस्तित्व किसी भी आधिकारिक पुस्तक में नहीं मिलेगा। अनुवादक यह तय नहीं कर सकते हैं कि सोवियत नेता का नाम खुश्चेव, रूश्चेव, क्रुश्चेव या ख्रुश्चेव था। पुरुषोत्तम मेहरा परषोत्तम मेहरा बना दिए गए हैं। बुल्गानिन अनुवादक के अनुसार बुलगनियन थे।

पुस्तक में चरखा काता नहीं, बल्कि काया जाता है। लगता है कि अनुवादक दिल्ली के बाजारों में दुकानों के साइनबोर्डों से काफी प्रभावित हैं, क्योंकि वहां दवाईयां लिखी होती हैं। इसीलिए उन्होंने जगह-जगह सचाईयों, भाईयों, लड़ाईयों आदि का उल्लेख किया है। पुस्तक में वल्लभभाई पेटेल, कन्सर्वटिव पार्टी, रजवीए एंड्रे मैलरौबस दयाभाग, ब्रिटिश, ऑर्मी कॉर्प्स आदि से हमारी भेंट होती है। इतना ही नहीं, अनुवादक और संपादक को मालूम नहीं है कि 'हालात' बहुवचन है, इसलिए उसे 'हालातों' में बदलने की जरूरत नहीं है।

कहना न होगा कि यह पुस्तक लेखक, अनुवादक और प्रकाशक के दुराग्रह को भरपूर रेखांकित करती है। यह उन लोगों के मुंह पर भी तमाचा है, जो समझते हैं विदेशी प्रत्यक्ष निवेश हिंदी प्रकाशन के क्षेत्र में आने से देश का भला होगा। कहा न होगा कि पेंगुइन का एकमात्र उद्देश्य कम-से-कम लागत के आधार पर अधिक-से-अधिक मुनाफा बटोरना है। गुणवत्ता की फिक्र निरर्थक है।

भारत : गांधी के बाद, दुनिया के विशालतम लोकतंत्र का इतिहास/रामचंद्र गुहा/अनुवादक : सुशांत झा/पेंगुइन बुक्स, /मूल्य : ₹ 399

एम-112, साकेत, नई दिल्ली-110017, फोन : 29563211, मो. 9811265654

अर्थ-व्यवस्था

# उदारीकरण पर गंभीर सवाल

अरविंद मोहन

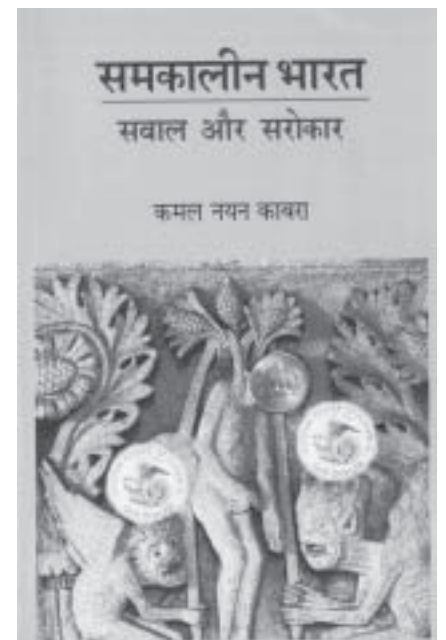
प्रो.

कमल नयन काबरा का नाम अर्थशास्त्रियों की बिरादरी के लिए नया नहीं है, काला धन से लेकर वायदा कारोबार तक के वे सबसे बड़े जानकारों में शुमार किए जाते हैं, पर बीसेक साल पहले शुरू हुए उदारीकरण ने उनको इतना डराया और मानसिक रूप से परेशान किया कि उन्होंने अकादमिक काम तेज करने के साथ अपना कार्यकर्ता वाला रूप भी सक्रिय किया, पहले से रुझान और संबंध रखने वाले दल का काम जब मन के अनुकूल नहीं लगा तो उससे अलग हुए, अंग्रेजी भर में लिखना पर्याप्त नहीं लगा (क्योंकि अंगरेजी मीडिया आंख मूंदकर उदारीकरण का समर्थन कर रहा था) तो जैसी भी बन पड़ी वैसी हिंदी में लिखना शुरू किया (धीरे-धीरे इसमें भी वे बहुत बढ़िया लिखने लगे) और छोटी-बड़ी की परवाह छोड़कर हर तरह के बुलावे पर विभिन्न सभाओं में जाकर भाषण करने लगे। जाहिर तौर पर उनकी आलोचना दमदार थी और उसका आम लोगों से लेकर नीतियां बनाने वालों तक पर असर हुआ—कम या ज्यादा। फिर उन्होंने अपनी बिरादरी के ऐसे लोगों को जुटाया, जो उनसे वैचारिक सहमति रखते थे और इस टोली ने हर साल सरकारी आर्थिक सर्वे के आसपास ही वैकल्पिक आर्थिक सर्वे पेश करना शुरू किया, जो पर्याप्त चर्चित और प्रशंसित होते हैं।

इन्हीं प्रो. काबरा की दो किताबों—समकालीन भारत; सवाल और सरोकार तथा बजट, आम आदमी और उदारीकरण को पढ़ना आपको न सिर्फ अनेक सवालों-शंकाओं से भरता है, बल्कि कई मायनों में वैकल्पिक दिशा सुझाकर आपकी शंकाओं का समाधान करने में भी सक्षम है। इन दोनों किताबों का

यह मोटा निष्कर्ष चौंकाता है कि दो-ढाई दशक से चल रही नवउदारवादी आर्थिक नीतियां तेज आर्थिक विकास के नाम पर लोगों को कंगाल बना रही हैं और देशी-विदेशी कॉर्पोरेट घरानों को बढ़ावा दे रही हैं। यह करते हुए शासन और पूंजीवादी बाजार दोनों ही ऐसा दिखाते हैं, मानो शासन का आर्थिक क्षेत्र में रहने का कोई मतलब नहीं है और सरकार आर्थिक कार्यव्यापार से हाथ खींच रही है, पर हो रहा है ठीक उल्टा, क्योंकि शासन हर तरह से बाजार की मदद करने के अलावा उसकी हिफाजत में डंडा लिए खड़ा है, पर बाजार किसी भी तरह से सरकार को मदद करने को तैयार नहीं है। इस नपाक गठजोड़ और इन नीतियों का प्रभाव ही है कि हमारी आबादी के तीन-चौथाई हिस्से की उपेक्षा होने लगी है और उसका जीवन बदहाल होता जा रहा है।

इन दोनों संग्रहों में आए प्रो. काबरा



के ज्यादातर लेख विभिन्न अखबारों और पत्रिकाओं के लिए लिखे गए हैं, उनको किताब में लेने के लिए नया रूप जरूर दिया गया है, पर उनसे लगभग एक साफ निष्कर्ष निकलता है कि शासन को लोगों की चिंता नहीं है और बाजार को तो मुनाफे के अलावा कुछ सूझता नहीं। इनके ऊपर आई महंगाई की मार ने पहले से चली आ रही गैर बराबरी को और बढ़ा दिया है। जीवन बसर करने के सम्मानजनक और भरोसेमंद साधनों के अभाव ने मुश्किलें बढ़ाई हैं तथा लोग अपने मान-सम्मान के साथ जीवन जीने में परेशानी का अनुभव करते हैं। संविधान प्रदत्त अधिकारों के अनुरूप जीना मुश्किल हुआ है। भूख के लिए अपने बच्चों को बेचना और आत्महत्या तक जाना भी अपवाद नहीं रह गया है। भ्रष्ट और भाई-भतीजावादी या मुट्ठी भर लोगों को लाभ पहुंचाने शासन ने मुश्किलें बढ़ाई हैं, इंकलुसिव ग्रोथ शब्द लोगों को धोखा देने भर के लिए है और यह सब तब हो रहा है, जब पश्चिम में पूंजीवाद का महल चरमरा रहा है। कायदे से अभी इन चीजों को देखते हुए नवउदारवादी नीतियों को अलविदा करना चाहिए था, पर विडंबना यह है कि हमारे यहां जो कोई शासन में आया है, वह इन्हीं नीतियों को और तेज करता गया है।

अब इसे चाहें तो अच्छा-बुरा कुछ भी मान सकते हैं कि जिस आम आदमी को आर्थिक वास्तविकता से परिचित कराने और नीतियों की गड़बड़ बताने के लिए प्रोफेसर कमल नयन काबरा बीते बीस वर्षों से एक जुनून की तरह काम कर रहे हैं, उसे तो इस लेखन का बहुत कम पता होता है, पर अर्थशास्त्रियों, आर्थिक पत्रकारों और नीति निर्माताओं को उनके लेखन का इंतजार रहता है। इस मुल्क में आर्थिक नीतियों की स्वस्थ आलोचना कम लोगों और जमातों ने की है और एक अच्छी लाइन लेकर चलने वाले तो उससे भी कम हैं। संघ परिवार और माकपा से जुड़े अर्थशास्त्रियों-लेखकों ने जरूर शुरू में बहुत शोर मचाया, लेकिन जब उनकी सरकारों के फैसेले सामने आने लगे तो उन्होंने लाइन बदल ली। प्रो. काबरा का लेखन अर्थव्यवस्था के सही मूल्यांकन और सरकारी अनुमानों और वाहवाही की पोल खोलने वाला है और

इसीलिए पर्याप्त लोकप्रिय भी है। उनकी भाषा जरूर कई बार दुरूह हो जाती है, पर एक तो अर्थशास्त्र का सब कुछ हल्के ढंग से लिखा नहीं जा सकता और उनकी हिंदी कितनी भी मुश्किल हो, अंग्रेजी से तो हल्की ही है।

प्रो. काबरा ने विभिन्न अध्यायों में बांटकर लेखों के स्वरूप और प्रभाव को तो बढ़ाया ही है, कई मामलों में आंकड़ों, तथ्यों और तर्कों के दुहराव को रोका है। साथ ही उन्होंने विकास के आंकड़ों की सुनहरी तस्वीर को हमारे देश में मौजूद एवं दिनोंदिन गहराती व्यापक गरीबी, असमानता और भ्रष्टाचार के परिप्रेक्ष्य में जांचने का प्रयास किया है। इन लेखों में सिर्फ भारतीय अर्थव्यवस्था की नवउदारवादी आर्थिक नीतियों की न सिर्फ समालोचना की गई है, बल्कि वैकल्पिक समाधान ढूंढने की आवश्यकता और पृष्ठभूमि भी तैयार की गई है। लेखक के मन में कहीं भी दुविधा नहीं है और उसकी साफ राय है कि देश की राजनीति और अर्थनीति में जो बदलाव हो रहे हैं, वे हर हिसाब से आम भारतीय लोगों के मौजूदा और दीर्घकालिक हितों के खिलाफ हैं। यह सारा काम देश के संभ्रांत तबकों द्वारा संचालित है और उन्हीं को लाभ पहुंचा रहा है। इसके चलते आज का भारत एक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्याधियों के दुष्क्रम में फंस गया है और लोगों के लिए विश्वास का एक गहरा संकट खड़ा हो गया है। राजनैतिक



दलों ने वोट लेकर जनता का भरोसा तोड़ा है तो आर्थिक प्रतिष्ठानों और कंपनियों ने जनता से पूंजी जुटा लेने के बाद विश्वासघात किया है। उदारीकरण के बहाने जनता की पूंजी और प्राकृतिक संसाधनों की लूट हो रही है। इससे गैर-बराबरी बढ़ी है और यथास्थिति मजबूत हुई है।

लेखक ने इन लेखों के जरिए कुछ बुनियादी प्रश्नों को भी उठाया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि इन नीतियों से देश में कोई तकनीकी विकास का नया कौशल विकसित हुआ हो, इसका प्रमाण तो नहीं है। सामाजिक उद्यमशीलता के विकास का भी कोई लक्षण नहीं दिखता। विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के अनुरूप आयात करने में देसी उद्योगों का नुकसान हुआ है। देसी उद्योग अपने उत्पादों में जो मूल्य संवर्धन कर रहा है, वह आयातित माल की कीमत से कम है। अचरज नहीं कि आज रोजगार के मामले में संगठित क्षेत्र का हिस्सा गिरता जा रहा है और औद्योगिक विस्तार और विकास की रफ्तार भी मद्धिम पड़ चुकी है। परिणामस्वरूप विदेश व्यापार का चालू खाते का घाटा सकल घरेलू उत्पादन के चार फीसदी तक पहुंच गया है। हमारे विदेशी मुद्रा के खाते में 300 अरब डालर जरूर हैं, पर ये भी व्यापार के लाभ के नहीं हैं। इन पर भारी देनदारियां हैं। सो ये भी ताकत बनने की जगह बोझ बन गए हैं।

एक साथ चौंसठ लेखों को पढ़ने का अपना आनंद है तो ये कहीं-न-कहीं टेंशन भी पैदा करते हैं, क्योंकि ये बताते हैं कि दो दशकों से चल रही आर्थिक नीतियों के दौरान देशी-विदेशी बड़ी पूंजीपरस्ती का चेहरा अब बेनकाब हो चुका है। दुर्भाग्य से यह काम हमारे चुने हुए प्रतिनिधियों की सदारत में ही चल रहा है। इससे इस राजनैतिक व्यवस्था का चेहरा भी छुपा नहीं रह गया है। यही मुट्ठी भर लोग संसद और कांफ़रेट जगत के कर्ताधर्ता हैं और एक-दूसरे को लाभ पहुंचा रहे हैं। दूसरी ओर बढ़ती गरीबी, महंगाई, बेरोजगारी, गैरबराबरी, पर्यावरण प्रदूषण और प्राकृतिक संसाधनों की कांफ़रेटी लूट असहनीय होती जा रही है, पर अच्छी बात यह है कि अब यह माडल खुद चरमरा रहा है और भारत में भी इन नीतियों को गंभीर जन चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। भ्रष्टाचार और यह

क्रोनीकैपिटलिज्म अब जनांदोलनों के निशाने पर हैं। काबराजी इन बड़े आर्थिक सवालों के साथ सामाजिक क्षेत्र पर कम खर्च, नक्सलवाद के सवाल पर दोनों बड़े व्यापारी संगठनों की चिंता और घटते टैक्स वसूली जैसे मसलों को भी छूते हैं और इन मामलों में दिखती नीतिगत खामियों को उजागर करते हैं। नवउदारवादी नीतियों का शासन और सामाजिक न्याय जैसे घोषित उद्देश्यों पर क्या असर हो रहा है, इस पर भी विस्तार से विचार किया गया है। एक बहुत सुंदर लेख लुप्त होती लोकतांत्रिक प्रतिबद्धताओं पर भी है।

बजट वाली किताब इस अर्थ में विशिष्ट है कि इसमें बजटों को एक अध्यापक वाले अंदाज में समझाने के साथ उनके छुपे अर्थों को साफ किया गया है। वे अर्थ पूरी नई आर्थिक नीतियों को दुष्ट करने वाले ही हैं। और इनमें से अधिकांश की चर्चा पहले की जा चुकी है, पर सबसे दिलचस्प है इस संग्रह का वह पहला लंबा लेख, जिसमें उदारीकरण के दौर में बजट निर्माण के बदलावों को रेखांकित किया गया है। लगभग यू-टर्न लेते हुए हमारे बजट निर्माता घाटे के बजट की तारीफ छोड़कर राजकोषीय घाटे को सबसे बड़ा दुश्मन किस तरह मानने लगे हैं, यह और इस जैसे बदलावों की कहानी इसमें है, पर इस समीक्षक को इससे भी ज्यादा अच्छा और काम की चीज इस किताब के अंत में दिए गए आंकड़े और उनकी एकदम नई व्याख्या लगी। जैसे वे बताते हैं कि चालू कीमतों पर तो 1950 से 2007-08 तक हमारी राष्ट्रीय आय 430 गुना बढ़ी है, लेकिन जैसे ही हम अपरिवर्तित कीमतों पर हिसाब लगाते हैं, यह मात्र 14.25 गुना ही ठहरती है। इस किताब में एक वैकल्पित बजट भी दिया गया है, जो अपने आपमें सरकारी बजटों पर टिप्पणी होने के साथ हमारी समझ को बढ़ाने वाला है।

**1. समकालीन भारत : सवाल और सरोकार, 2. बजट, आम आदमी और उदारीकरण** दोनों के लेखक : कमल नयन काबरा/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य क्रमशः ` 300 और ` 300

ए-504, जनसत्ता अपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 मो. 09811826111

पुलिस

# पुलिस का मानवीय चेहरा

गौतम भारद्वाज

अ

शोक कुमार भारतीय पुलिस सेवा में कार्यरत 1989 बैच के आईपीएस अधिकारी हैं। वर्तमान में सीमा सुरक्षा बल में

पुलिस महानिरीक्षक के पद पर दिल्ली में कार्यरत हैं। राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित अशोक कुमार की पुस्तक खाकी में इंसान को पढ़ने के बाद उत्तराखंड के पुलिस महानिदेशक सुभाष जोशी ने बड़ी सटीक टिप्पणी की है। उन्होंने इस पुस्तक के बारे में कहा है कि इस पुस्तक में एक ऐसे पुलिस अधिकारी के खट्टे-मीठे अनुभवों की झलक मिलती है, जो जमीनी हकीकत समझते हुए आम आदमी को उसका हक और न्याय दिलाने के लिए कटिबद्ध है। साथ ही वह उन लाखों पुलिसजनों की पीड़ा को भी समझता है, जो हर पल चाकू की धार पर चलते हुए अपने कर्तव्य को निष्ठापूर्वक निभाते हैं।

यह पुस्तक पुलिस की वर्दी के अंदर की इन्सानियत को झकझोरने का काम करेगी। स्वयं लेखक ने लिखा है—मेरा कहना है पुलिस की वर्दी में होते हुए भी इन्सान बने रहना इतना मुश्किल तो नहीं? पुस्तक की रोचक और मर्मस्पर्शी कथाओं को पढ़ने के बाद डॉ. किरण बेदी ने कहा कि खाकी में इन्सान पुस्तक की हर कहानी पर एक टी.वी. सीरियल बनाया जाना चाहिए।

हरियाणा के एक छोटे-से गांव में पैदा होने और भारत के श्रेष्ठ तकनीकी संस्थान आईआईटी, दिल्ली में पढ़ने के बाद लेखक ने खूब समझा कि भारत दो परस्पर विरोधी धाराओं में विकसित हो रहा है। ऐसे में उसने देश के सामने मुंह बाए खड़ी ढेर सारी समस्याओं को खत्म करने की चुनौती को स्वीकार करने का फैसला किया।

आईपीएस की ट्रेनिंग के दौरान अकादमी में खाने-पीने, पहनने-संवरने के साहबी तौर-तरीकों में दिखाई पड़ती सामंती प्रवृत्ति के समानांतर लेखक ने बुंदेलखंड क्षेत्र में रैपिड रूरल एग्जेल के तहत देखा—क्षेत्र में चारों तरफ गरीबी और हताशा का साम्राज्य नजर आता है। बांदा की लाल मिट्टी, दूर-दूर तक फैले हुए एल्यूमिनियम के पिचके कटोरों की तरह के खाली मैदान, चरम

हताशा और अकेलेपन का रोना रोती हुई अभावग्रस्त झोपड़ियां, युगों-युगों से अपने लिए कोई सहारा खोजती कटिदार वनस्पतियां और उनके हमशक्ल इन्सान।

जाहिर है, लेखक की अपने पूरे करियर में कोशिश रही, 'मैं प्रत्येक पीड़ित की समस्या ध्यान से सुनूं, उसकी पीड़ा को इन्सान के नजरिए से महसूस करूं और उसको थाने एवं कोर्ट-कचहरी के अनावश्यक दांव-पेचों में फंसने से बचाकर जल्दी-से-जल्दी न्याय दिलवाऊं। अनुभवों से उसने जाना, 'अच्छी पुलिस व्यवस्था की अगर किसी को जरूरत है तो वह ऐसे लोगों को, जो न तो किसी प्रभावशाली व्यक्ति की कृपा के पात्र हैं और न ही जिनके पास खर्च कर सकने के लिए पैसा है।'

माहात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय के कुलपति और 1975 बैच के आईपीएस अधिकारी बी. एन. राय ने इस पुस्तक के बारे में लिखा है कि अशोक कुमार के दो दशकों के पुलिस जीवन से प्राप्त अनुभवों पर आधारित यह छोटी-सी पुस्तक खाकी में इन्सान एक उम्दा लेखन की मिसाल है। जेलों, थानों तथा पुलिस कार्यालयों के



इर्द-गिर्द बिखरा हुआ जीवन कितना दिलचस्प और चुनौतीपूर्ण हो सकता है, इसे अशोक कुमार के अनुभवों को पढ़कर समझा जा सकता है। अशोक कुमार ने अपने लेखन के लिए एक सपाट भाषा विकसित की है, जो हमें उनके पात्रों से तादात्म्य स्थापित करने में मदद करती है।

खुद अशोक कुमार के शब्दों में कहें तो “इस किताब का उद्देश्य मेरे द्वारा किए गए कार्यों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना नहीं है—इसका उद्देश्य तो ये दिखाता है कि कैसे हर समस्या को मानवीय दृष्टिकोण से देखा व समझा जा सकता है।” वे आगे लिखते हैं, “इस किताब में कुछ वास्तविक घटनाओं पर आधारित कहानियों के जरिए यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि अच्छी पुलिस व्यवस्था से सचमुच गरीब और असहाय लोगों की जिंदगी में फर्क लाया जा सकता है।”

उत्तर प्रदेश के पूर्व पुलिस महानिदेशक प्रकाश सिंह ने इस पुस्तक के बारे में कहा कि अशोक कुमार ने ऐसे घटनाक्रमों का उल्लेख किया है, जहां मानवीय और संवेदनशील दृष्टिकोण से पुलिस द्वारा किसी बलात्कार की शिकार महिला, वसूली की धमकी पाए हुए आदमी या ऐसे आदमी, जिसकी जमीन छीन ली गई हो, के आंसू पोछे गए हों। पुस्तक का केंद्रीय भाव है कि सिस्टम में आने वाली अड़चनों के बावजूद, सिस्टम के अंदर रहते हुए भी एक पुलिस अधिकारी लोगों के जीवन, संपत्ति एवं सम्मान की रक्षा कर उनकी सेवा कर सकता है।

अशोक कुमार के मुताबिक यदि हम काम न करने के 50 तरीके अपना सकते हैं तो काम करने के भी 50 रास्ते खोज सकते हैं। बस जरूरत है अपने को साहब न समझकर पब्लिक का नौकर होकर ठीक से काम करने की।

ऐसे में जरूरत है कि हर उस शख्स को इस किताब को एक बार जरूर पढ़ना चाहिए, जिसका वास्ता खाकी वर्दी से है, क्योंकि एक खाकी वर्दी वाला, “सिस्टम में आने वाली अड़चनों के बावजूद सिस्टम के अंदर रहते हुए भी लोगों के जीवन, संपत्ति एवं सम्मान की रक्षा कर उनकी सेवा कर सकता है।”

**खाकी में इन्सान**/अशोक कुमार साथ में अशोक ओहरी/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 95 (पेपर बैक)

731, सेक्टर-2, आर.के. पुरम्, नई दिल्ली-110022  
मो. 9868324500

## हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है, जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनियाभर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियाँ और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग साढ़े चार लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब दो हजार पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय एक लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-सी मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को चौदह मुख्य खंडों में बांटा गया है—उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, भक्ति काल का साहित्य, विभाजन की कहानियाँ, लेखकों के समग्र और संचयन, ई-पुस्तकें, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिक निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रा वृत्तांत आदि शामिल हैं। एक प्रमुख खंड ‘हिंदुस्तानी की परंपरा’ का है, जिसमें उन कृतियों तथा रचनाओं को शामिल किया गया है, जो हिंदी-उर्दू की साझा परंपरा का जीवंत दस्तावेज हैं। एक खंड अभिलेखागार का भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों की तस्वीरों, उनकी हस्तलिपि में लिखित रचनाओं, ऑडियो, वीडियो, पत्रों आदि का संकलन है। लेखक दीर्घा में हिंदी के सभी समकालीन रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध कराने का प्रयास जारी है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेजकर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152230912 पर फोन करें या editorhindisamay@gmail.com पर मेल करें।

राजकिशोर

53, इंडियन एक्सप्रेस अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, दिल्ली-110096

फोन : 09650101266

# अर्चना पेन्यूली की कहानी 'हाईवे-47' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

व

स्तुतः कहानी का यथार्थ वैसा ही नहीं होता जैसा जीवन का यथार्थ होता है। यदि ऐसा होता तो किसी भी रचना का यथार्थ बहुत सतही होता। प्रेमचंद ने कहीं लिखा है कि यथार्थ वह नहीं है जो आंखों के सामने दिखता है बल्कि यथार्थ वह है जिसके कारण वैसा दिखता है। उदाहरण के लिए सड़क पर बैठा भिखारी यथार्थ नहीं है। यथार्थ वह व्यवस्था है जिसके कारण भीख मांगना उसकी मजबूरी थी। आज की हिंदी या प्रवासी कहानी में जिस तरह हमारे जीवन या समय का इतिहास सामने उभर कर आ रहा है, उसमें चमक-दमक तो बहुत है लेकिन यथार्थ के नाम पर सतहीपन ज्यादा है। कहने की जरूरत नहीं कि आज थोक भाव से जिस तरह लंबी-लंबी कहानियां लिखी जा रही हैं, उसके पीछे रचनाकारों के यशःप्रार्थी होने की आकांक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह अकारण नहीं है कि कवि कहानी लिखने लगे हैं और कहानीकार कविता। रचनाकार के लिए विधा का बंधन नहीं होता, यह सच है लेकिन इससे भी बड़ी सच्चाई यह है कि अभिव्यक्ति का विकल्प फैशन नहीं है। मेरे कहने का आशय यह है कि कवि कहानी लिखकर अपने लेखन को सार्थक समझता है और कहानीकार कविता लिखकर। इधर जिस तरह की कहानियां लिखी जा रही हैं उसमें फार्म और कंटेंट (वस्तु और रूप) के स्तर पर इतनी तोड़-फोड़ हुई है कि कहानी कविता लगने लगी है और कविता कहानी। मेरी बात पर यदि यकीन न हो तो काशीनाथ सिंह का सद्यः प्रकाशित उपन्यास 'महुआ चरित' देखें। चिंता की बात यह नहीं है कि कहानी से कंटेंट गायब हो गया है बल्कि असली चिंता की बात यह है कि विधा

का मौलिक स्वरूप बदल गया है। यह मात्र विधागत परिवर्तन नहीं है बल्कि हमारे जीवन में तेजी से बदलते यथार्थ के समानांतर है।

इस बार इस स्तंभ के अंतर्गत हमने अर्चना पेन्यूली की कहानी 'हाईवे-47' अंतर्पाठ के लिए चुनी है। भारत में जन्मी अब डेनमार्क में बसी अर्चना पेन्यूली एक अरसे से कहानियां लिख रही हैं। अपनी प्रिय कहानी 'लक्ष्मी' के बारे में पेन्यूली लिखती हैं, 'कई कारण हैं कि मैं कहानी 'लक्ष्मी' को बेहद पसंद करती हूं। मेरी यह कहानी डेनमार्क आने से पूर्व मुंबई हमारे घर काम कर रही बाई माया पर आधारित है। दस साल का लंबा अरसा गुजर गया है। ..परंतु माया का वजूद आज भी हमारी जिंदगी में बना हुआ है।...डेनमार्क, यानी विदेश की धरती से 'लक्ष्मी' मेरी आरम्भिक चंद रचनाओं में से एक है। जैसे माया मेरे दिमाग से उतरती नहीं ऐसे ही कई संवेदनशील पाठकों ने इस कहानी को पढ़कर कहा—'आपकी 'लक्ष्मी' कहानी हमारे दिमाग से उतरती नहीं। (रचना समय, अतिथि संपादक तेजेंद्र शर्मा)

कोई घटना या कोई व्यक्ति किस तरह हमारी स्मृति का एक अभिन्न हिस्सा बन जाता है इसका एक उदाहरण है 'लक्ष्मी' कहानी। दरअसल कथा रचना अंततः स्मृतियों का ही आख्यान है। कभी सुदूर अतीत की स्मृति कभी निकट की स्मृति कालांतर में यथार्थ का रूप लेती है। ऐसा क्या था लक्ष्मी में कि विदेश प्रवास के लंबे कालखंड में भी वह लेखिका के मन मस्तिष्क में धंसी हुई है। गहराई से सोचने पर लगता है कि लक्ष्मी की मनुष्यता में जरूर कुछ ऐसी विषेषता या आत्मीयता रही होगी जिसे विस्मित करना आसान नहीं है। दरअसल किसी रचना में लेखक अपने को अभिव्यक्त करके खुद को हल्का या उन्मुक्त करता है

ठीक उसी तरह जैसे उमड़ती घुमड़ती घटाएं बरसने के बाद मौसम को संतुलित करती हैं।

अर्चना पेन्यूली की किंचित लंबी कहानी 'हाईवे-47' का कथ्य बहुत छोटा है लेकिन जिन्दगी और मौत का बड़ा फासला लिए हुए। हाईवे 47 पर एक कार दुर्घटना में एक दम्पति की मौत होती है और मृत पत्नी द्वारा दान में दी हुई किडनी का प्रत्यारोपण शुभ में होता है। एक तरफ मौत है और दूसरी तरफ जिन्दगी। और मौत और जिन्दगी के बीच वह यथार्थ है जो मनुष्यता को बचाए रखने के लिए दृढ़ संकल्प है। कहानी का असली यथार्थ यही है।

इस कहानी का आरंभ फोन की घंटी बजने से होता है—'फोन की घंटी ने सन्नाटे को चीर दिया। एक पल के लिए शुभ बिस्तर पर हिली। मगर खामोश लेटे हुए फोन की घंटी सुनती रही। कुछ पल पूर्व ही वह बिस्तर पर आकर लेटी है और यह फोन बज गया। कौन कर रहा फोन इतनी रात गए ? उसे अपने बेटे राहुल के पदचाप ड्राइंगरूम की तरफ जाते सुनाई दिए। फिर उसके रिसीवर उठाने की आवाज।' आगे के प्रसंग में मां-बेटे का संवाद है—'मां। "हूं" शुभ ने आवाज की। "हास्पिटल से फोन था। 'हास्पिटल से?' हां। उन्हें आपके लिए किडनी मिल गई है।' कहने की जरूरत नहीं कि शुभ इस कहानी की मुख्य स्त्री पात्र है जिसकी किडनी खराब हो गई है और उसे जीने के लिए किडनी प्रत्यारोपण की जरूरत है। हीमोडायलिसिस एक साल से यह मशीन उसकी जिन्दगी का एक अभिन्न हिस्सा बनी हुई है। शुभ की शादी इंजीनियर कालेज में प्रोफेसर संदीप से हुई थी। उसके दो बेटे—मयंक और राहुल थे। उनकी जिन्दगी संतोषमय थी लेकिन संदीप कुछ बदलाव चाहता था और

इसी बदलाव के लिए वह इलाहाबाद से डेनमार्क की टेक्नीकल यूनिवर्सिटी में नौकरी करने के सिलसिले में कोपनहेगन शुभ को यह आश्वासन देकर चला जाता है कि वहां पहुंचकर स्थिर हो जाने के बाद वह शुभ को जल्द ही बुला लेगा। 'कोपनहेगन से संदीप के शुभ के लिए पत्र आते, फोन आते। हरेक फोन व पत्र में सिर्फ कोरा आश्वासन कि वह जल्दी ही परिवार को अपने पास बुलाने का इंतजाम कर रहा है। इंतजारी में एक वर्ष बीत गया। फिर आया वह पत्र जिसने शुभ को दहला दिया। संदीप ने निःसंकोच ऐना, अपने डिपार्टमेंट की सेक्रेटरी, के प्रति अपनी अनुरक्तता का खुलासा किया था, उससे शादी करने की मंशा व्यक्त की, और शुभ से तलाक मांगा।' निश्चित रूप से शुभ के लिए यह एक अप्रत्याशित घटना थी। कहां तो वह कोपनहेगन जाने की तैयारी कर रही थी लेकिन बीच में यह हादसा। पत्रों का सिलसिला जारी रहता है और शुभ से तलाक की याचना भी। शुभ स्थिति को समझती ही नहीं थी बल्कि व्यावहारिक तरीके से मामले को सुलझाने के लिए भी गौर कर रही थी। संदीप के सामने उसने एक शर्त रखी कि वह पहले शुभ और अपने दोनों बेटों को कोपनहेगन बुलाए क्योंकि अकेले वह बेटों की परवरिश नहीं कर सकती। संदीप ने शर्त मंजूर कर ली और शुभ कोपनहेगन पहुंच जाती है।

दरअसल शुभ का सोचना था कि अपने देश और परिवार से दूर होने और अकेलेपन की वजह से संदीप किसी गोरी औरत की तरफ झुक गया होगा। अब शुभ व बच्चे करीब होंगे तो संदीप का मन बदल जाएगा। मगर शुभ की सोच गलत होती है क्योंकि डेनिश कानूनी नियमों के तहत पति-पत्नी एक वर्ष के कानूनी विच्छेद के पश्चात् तलाक के अधिकारी हो सकते थे। तब जाकर वे किसी और से शादी कर सकते थे। मगर संदीप बगैर शादी के ऐना के साथ उसका पति बनकर रह रहा था। फिर जब उसको यह मालूम होता है कि ऐना संदीप के बच्चे की मां बनने वाली है तो शुभ स्वयं कोर्ट में तलाक की याचिका डाल संदीप के साथ अपनी छः वर्षों की शादी का अंत कर डालती है।

लेकिन ऐना के साथ पन्द्रह वर्षों तक रहने के बावजूद एक अनंत रिश्ता, जोकि मौत तक ले जाता है, उनके बीच पनप नहीं



पाया। वह अपना घर, फर्नीचर व बच्चे ऐना के पास छोड़कर एक छोटे से फ्लैट में अकेला रहने लगा। शुभ को यह सब जानकारी अपने बच्चों से टुकड़ों में मिली थी। "पापा ने हमारे घर के पास ही फ्लैट लिया है," एक दिन राहुल उससे बोला था।

बच्चों से मिलने के बहाने संदीप शुभ के घर आने-जाने लगता है। संदीप के पूछने पर कि तुमने अपने लिए कोई साथी ढूंढने की कोशिश कभी नहीं की? शुभ कहती है, 'मैंने किसी अन्य आदमी को अपनी जिन्दगी का हिस्सा सिर्फ मयंक व राहुल की वजह से नहीं बनाया। मैंने देखा कि तुम अपने दूसरे परिवार में इस कदर व्यस्त हो कि मयंक व राहुल के लिए तुम्हारे पास बिते भर का भी समय नहीं। ऐना, विलाड व मीला ही तुम्हारी जिन्दगी थे। तुम मयंक व राहुल से ऐसे मिलते थे जैसे दूर के रिश्तेदार मिला करते हैं। अगर मैं भी तुम्हारी तरह एक दूसरा परिवार बसा लेती—नया पति, नए बच्चे तो मयंक व राहुल पूरी तरह उपेक्षित हो जाते। मैं उनके साथ ऐसा नहीं होने देना चाहती थी।' संदीप उससे फिर से साथ रहने का आग्रह करता है लेकिन शुभ उत्तेजित होकर पूछती है, 'मैं पच्चीस साल की थी जब बेवजह ही तुम्हारे विश्वासघात का निशाना बनी। अब मैं पैंतालीस की हूँ—क्या तुम मुझे मेरी जिन्दगी के वे बहुमूल्य बीस साल लौटा सकते हो?' संदीप के पास शुभ के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं था। शुभ उससे अपनी जिन्दगी में हस्तक्षेप न करने के लिए कहती है। कुछ समय बाद उसे पता चलता है कि संदीप

को एक नई गर्लफ्रेंड मिल गई है जिसके साथ वह रहता है। जिसके साथ उसके दोनों जवान बच्चे काफी घुलमिल गए हैं। शुभ हताश हो जाती है। वह सोचती है। 'पहले एक औरत ने उसका पति छीना, अब दूसरी औरत उससे उसका बेटा छीनने लगी है।'

एक दिन शुभ को संदीप की मौत की खबर देते हुए मयंक ने कहा, 'मां, पापा इस दुनिया में नहीं रहे।' उसकी मौत की खबर ने शुभ को यद्यपि दहलाया नहीं लेकिन खेद प्रकट करते हुए उसने कहा, 'अरे वह बहुत जल्दी मर गया।' जब उसे पता चलता है कि संदीप की मौत एक एक्सीडेंट में हुई तो वह कांपते स्वर में पूछती है, 'क्या जिजर उसके साथ थी?' हां, मगर दोनों में से कोई भी नहीं बचा।' कब हुआ एक्सीडेंट? राहुल बोला, 'संयोग से आपके आपरेशन से कुछ घंटे पहले ही।' शुभ ने थरथराते होठों से अन्तिम प्रश्न पूछा, 'कहां हुआ था वह एक्सीडेंट?' 'एक हाईवे पर-हाईवे-47'।

इस तरह यह कहानी दाम्पत्य के घात-प्रतिघात से टकराकर मृत्यु के कगार पर पहुंचकर अनजाने में शुभ को जीवनदान देती है। कहानी ठीक-ठाक है लेकिन कथ्य में कोई नवीनता नहीं है। फिर भी जीवन और मृत्यु का विपर्यय इस कहानी को उल्लेखनीय बनाता है। लक्ष्मी कहानी की तरह इस कहानी में स्मृतियों का आख्यान नहीं है लेकिन विदेशी परिवेश में एक भारतीय युवक का बदलता चेहरा जरूर है। यदि मानवीय संबंधों में शिथिलता आई है तो इसका स्पष्ट कारण है विदेशी चमक-दमक के बीच एक प्रवासी युवक का आकर्षण। अर्चना पेन्चूली ने इस कहानी में यह संकेत दिया है कि डेनमार्क में गंभीर बीमारी के इलाज का खर्चा सरकार वहन करती है। इस कहानी की भाषा प्रवाह में कहीं-कहीं शिथिलता है जैसे 'कुछ पल पूर्व ही, शुभ ने आवाज की, शुभ बैड पर धुलक गई, शुभ ने अपने कान, नाक बांहों व गले को आभूषणों से रिक्त कर दिया आदि।

बी-19/एफ, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, मो. 09891349058

# भारतीय लोकतंत्र का चेहरा

अनंत विजय

पि

छले दो साल में जिस तरह से सरकार और देश के कई राजनेताओं पर घपलों-घोटालों के आरोप लग रहे हैं, उससे तो एक बात साफ हो गई है कि हमारे देश में भ्रष्टाचार की जड़ें बेहद गहरी हो गई हैं। पहले एक लाख छिहत्तर हजार करोड़ रुपए का टेलीकॉम घोटाला, उसके बाद सत्तर हजार करोड़ रुपए का कॉमनवेलथ घोटाला, उसके बाद कोल ब्लॉक आवंटन में सरकारी खजाने को करीब दो लाख करोड़ रुपए का चूना। ये हाल के दिनों के घपलों-घोटालों के कुछ ऐसे नमूने हैं जिसकी अगर कुल राशि को जोड़ दिया जाए तो वो किसी भी सरकारी महकमे के साल भर के बजट से ज्यादा हो सकता है। किसी जमाने में भारत में चंद करोड़ रुपए के घोटाले के आरोपों पर सरकारें चली जाती थी, संबंधित नेताओं का इस्तीफा हो जाता था या फिर मंत्री-मुख्यमंत्री को पद त्यागना पड़ता था, लेकिन अब तो लाखों-करोड़ों के घपले-घोटालों के आरोपों के बावजूद ना तो इस्तीफा होता है और ना ही सरकारी पदों पर काबिज लोग खुद से पद छोड़ते हैं। अदालत के हस्तक्षेप के बाद ही कोई कार्रवाई होती नजर आती है। ऐसे ही माहौल में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलनों को बल मिल रहा है। पहले अन्ना हजारे की अगुवाई में लोगों को एक आस बंधी थी, लेकिन वो पानी के बुलबुले की तरह जितना तेजी से बढ़ा उतनी ही तेजी से बिखर भी गया। अन्ना हजारे एक बार फिर से उसके बिखरे सिरों को जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। अन्ना हजारे के अलावा बाबा रामदेव ने भी काले धन के खिलाफ संघर्ष का बिगुल बजाया हुआ है, हालांकि उनकी खुद की साख पर सवाल हैं। अन्ना हजारे के पूर्व

सहयोगी अरविंद केजरीवाल भी मीडिया की पीठ पर चढ़कर बेहद जल्दी में कुछ कर गुजरने की तमन्ना पाले बैठे हैं।

भ्रष्टाचार पर मचे कोलाहल के बीच हर कोई उसके खत्म होने की बात तो कर रहा है, लेकिन उसके मूल में जाकर उसके पनपने और फलने-फूलने की वजहों का पता लगाने की ललक किसी में भी नहीं दिखाई देती। घपले-घोटालों के इस घटाटोप के बीच अभी पूर्व मुख्य सतर्कता आयुक्त एन. विट्ठल की सनसनी जो किताब-एंडिंग, करप्शन, हाउ टू क्लीन अप इंडिया—प्रकाशित हुई है। इस किताब में भ्रष्टाचार को आधार बनाकर उसके पनपने और फलने-फूलने की वजहों की गंभीरता से पड़ताल की गई है। एन. विट्ठल भारत में भ्रष्टाचार की वजहों और उसके फलने-फूलने की जानकारी रखने वाले चंद लोगों में से एक हैं। एन. विट्ठल भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रहे हैं, जिन्हें सेवानिवृत्ति के बाद



मुख्य सतर्कता आयुक्त बनाया गया था। वे भारत के पहले सीवीसी थे। अपनी किताब की भूमिका में विट्ठल लिखते हैं कि रिटायरमेंट के बाद वे सरकारी कामकाज को बाहर से देख रहे थे, लेकिन उन्हें इस बात का थोड़ा बहुत एहसास है कि भ्रष्टाचार की जड़ें कहां-कहां तक फैली हैं। उनके मुताबिक भ्रष्टाचार को समूल रूप से खत्म करने के बजाय उसको रोकने के विकल्पों पर बात करना ज्यादा जरूरी है। विट्ठल ने अपने अनुभव के आधार पर कहा है कि अगर आप अपनी जिंदगी में हर चीज को अवश्यंभावी नहीं माने लेते हैं तो ही नए विकल्प और नए विचार सामने आते हैं। विट्ठल की किताब उनके इसी दर्शन पर आधारित है। कहा जा सकता है कि एन. विट्ठल ने अपनी इस किताब में देश के हर अहम क्षेत्रों में होने वाले भ्रष्टाचार की वजहों को परखा है। विट्ठल ने इस किताब में भ्रष्टाचार को एक गंभीर सामाजिक बीमारी के तौर पर देखा है, समाज के उन डॉक्टरों और इंजीनियरों की पहचान करने की कोशिश भी की है जो भ्रष्टाचार मुक्त भारत का निर्माण कर सकते हैं।

इस किताब में विट्ठल ने कई लोगों के उद्धरणों के आधार पर अपनी बात कही है। नैसकॉम के पहले अध्यक्ष देबांग मेहता के हवाले से उन्होंने भारतीयों की मानसिकता को दिखाया है। एक साक्षात्कार के दौरान तीन उम्मीदवार होते हैं। इंटरव्यू बोर्ड जब एक अंग्रेज से पूछते हैं कि बताओ छह और नौ को जोड़ने पर कितना होता है। तो वह फौरन जवाब देता है—15। यही सवाल जब अमेरिकी से पूछा जाता है तो वह फौरन कैलकुलेटर निकालता है और उस पर अपनी अंगुलियां चलाने के बाद जवाब देता है—15। यही

सवाल जब एक भारतीय से पूछा जाता है तो वह पहले इधर-उधर देखता है और फिर तसल्ली होने के बाद बेहद नाटकीय तरीके से धीरे-से कहता है कि होता तो 15 है, लेकिन आप लोग बताओ कितना करना है, उतना हो जाएगा। इंटरव्यू बोर्ड सर्वसम्मति से भारतीय को नौकरी पर रख लेता है। इस एक छोटे-से उदाहरण से भारतीय नौकरशाही की पूरी मानसिकता को समझा जा सकता है, जो कमोबेश हिज मास्टरर्स वॉयस बनकर रह गया है। अब भी भ्रष्टाचार के आरोपों से घिरे भारत सरकार के संयुक्त सचिव और उनसे ऊपर के अधिकारियों की जांच के लिए एजेंसियों और पुलिस को एक खास किस्म की इजाजत की जरूरत पड़ती है, जिसको हासिल करने में उनके पसीने छूट जाते हैं। ऐसे में भ्रष्टाचार के लिखलाफ लड़ाई लड़ने का दावा दिखावा या बहकाने-बहलाने की कोशिश मात्र लगता है।

विट्ठल से लेकर 2010 तक स्कैम दर स्कैम होते रहे और सरकार उसके खिलाफ कानून बनाने से कतराती रही। 1976 में करीब सवा दो करोड़ रुपए का तेल घपला हुआ था, जब इंडियन ऑयल कॉरपोरेशन ने हांगकांग की एक फर्जी कंपनी से तेल सौदा किया था। 1981 में महाराष्ट्र के उस वकत के मुख्यमंत्री ए. आर. अंतुले पर सीमेंट आवंटन के बहाने अपनी निजी ट्रस्ट को तीस करोड़ का फायदा पहुंचाने का आरोप लगा। विट्ठल के आंकड़ों के मुताबिक 1976 से 2010 तक हुए घोटालों का कुल आंकड़ा करीब साढ़े तीन लाख करोड़ का है। उसमें आईपीएल घोआला और कोल ब्लाक आवंटन घोटाले की रकम को अगर जोड़ देते हैं तो आंकड़े और भी भयावह हो जाते हैं। मल्टीपल ऑर्गन फेल्योर के बाद विट्ठल डॉयगनोसिस पर आते हैं और उसके बाद लाइन ऑफ ट्रीटमेंट तय करते हैं।

इस किताब में विट्ठल भ्रष्टाचार के दानव का संहार करने के कई उपायों पर विचार भी करते हैं। उनका मानना है कि सार्वजनिक सेवा में रहते हुए जवाबदेही तय होनी चाहिए और पारदर्शिता भी। उनका मानना है कि हर सरकारी सौदे में छोटी से छोटी चीजें भी पारदर्शी होनी चाहिए। विट्ठल ने सुझाया है कि टैक्स का दायरा बढ़ाना चाहिए और टैक्स कानून में बदलाव किए जाने चाहिए ताकि कर अधिकारियों के पास कर चोरों के



खिलाफ कार्रवाई करने के अलावा कोई विकल्प ही नहीं बचे। उनके मुताबिक ऐसा करने से कालेधन पर लगाम लगाया जा सकेगा। उनका मानना है कि गैरकानूनी तरीके से अकूत धन जमा करनेवालों की कमर तोड़ने के लिए सबसे अहम है कि उनकी संपत्ति जब्त कर ली जाए। विट्ठल ने लॉ कमीशन के सामने करप्ट पब्लिक सर्वेंट (एथकवजीशन ऑफ इल गॉटन मनी) एक्ट पेश किया था जिसका ड्राफ्ट 2002 में ही तैयार हो गया था। वह ड्राफ्ट पिछले दस साल से सरकारी फाइलों की धूल फांक रहा है। विट्ठल का मानना है कि इस तरह के कानून में टैक्स की छूट वाले देशों में जमा काले धन को भी जब्त करने का अधिकार होना चाहिए। विट्ठल मानते हैं कि इस तरह के मजबूत कानून बनने में सबसे बड़ी बाधा राजनेता और वैसे लोग हैं जो फिलहाल इस वकत लागू कानून की आड़ में देश-विदेश में अकूत संपत्ति के मालिक हैं।

विट्ठल ने अपनी इस किताब में समाज के हर महकमे को परखने की कोशिश की है जिसमें राजनीति, नौकरशाही, न्यायपालिका, मीडिया, एनजीओ और कॉरपोरेट सेक्टर को भी कसौटी पर कसा गया है। न्यायपालिका पर लिखते हुए विट्ठल मानते हैं कि देश में सबसे ज्यादा साख की जरूरत इसी महकमे को है। उन्होंने कुछ उदाहरणों के साथ सवाल भी खड़े किए हैं। वे मानते हैं कि सुप्रीम कोर्ट

के पूर्व चीफ जस्टिस के. जी. बालकृष्णन, कलकत्ता हाईकोर्ट के जज जस्टिस राय और बेंगलोर हाईकोर्ट के जस्टिस दिनाकरन पर जिस तरह उंगलियां उठी वह न्यायपालिका के लिए ठीक नहीं है। ऐसे में सूचना के अधिकार के दायरे से जजों का खुद को बाहर रखने का फैसला और अपनी संपत्ति की अनिवार्य घोषणा से बचने पर शक की गुंजाइश बनी रहती है। न्यायपालिका की साख के लिए आवश्यक है कि न्यायाधीशों के बारे में पूरी तरह से पारदर्शिता हो। उन्होंने संसद में बैठे आपराधिक चरित्र के लोगों पर भी सवाल उठाए और कहा कि उनसे सख्त और भ्रष्टाचार विरोधी कानून की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। भारत के पहले राष्ट्रपति ओर संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—लोकसभा और विधानसभा में जीतकर आने वाले जनप्रतिनिधियों, जिन पर शासन चलाने की जिम्मेदारी होती है, के लिए किसी विशेष योग्यता की जरूरत नहीं है। हर व्यक्ति चाहे वो शैक्षणिक, चारित्रिक या अन्य रूप से चाहे जितना अक्षम हो उसे रोका नहीं जा सकता। हम देश की बेहतरी की बात तो करते हैं, लेकिन क्या हमने कभी देश को बेहतर तरीके से चलाने वालों के लिए कोई आर्हता तय की है। राजेन्द्र बाबू के मुताबिक संविधान में ऐसा प्रावधान इस वजह से नहीं हो सका, क्योंकि किसी पश्चिमी देश में इस तरह का प्रावधान नहीं है। राजेन्द्र बाबू ने इस बात पर जोर दिया था कि संविधान में इस तरह का प्रावधान होना चाहिए। उन्होंने इस तरह की बात को शामिल नहीं कर पाने के लिए नेताओं की पश्चिमी देशों के प्रभाव में फैंसले लेने को जिम्मेदार ठहराया, जो उनकी पश्चिमी शिक्षा से बनी थी। अब वकत आ गया है कि राजेन्द्र बाबू के कथन पर गंभीरता से विचार हो और चरित्रवान और विद्वानों के हाथ में सत्ता सौंपने का उपक्रम किया जाना चाहिए।

एंडिंग करप्शन? हाउ टू क्लीन अप इंडिया/एन. विट्ठल/पेंग्विन इंडिया बुक्स, नई दिल्ली-110017

आरटी-222, रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014 (उ.प्र.), मो. 09871697248  
ईमेल : [anant.ibn@gmail.com](mailto:anant.ibn@gmail.com)